

होशंगाबाद विज्ञान



साक्षरता विशेषांक

अंक 34

शिक्षा व शिक्षकों से संबंधित पत्रिका

मार्च 1992

संपादन

साधना सक्सेना
राजेश खिंदरी
हृदयकांत दीवान
राग तेलंग

सहयोग

ब्रजेश सिंह
गोपाल राठी
इन्दु नायर
अरुण सिंह
वीरेन्द्र
नीला
रेक्स

चित्र

कमलेश

वितरण

महेश शर्मा
रामभरोस

इस अंक में

- संपादकीय 1
- पढ़ाई छोड़कर साक्षरता अभियान 3
- एक प्रश्न चिन्ह : साक्षरता 5
- साक्षात्कार : लक्ष्मीधर मिश्र 7
- क्या होगा लिख पढ़कर 10
- साक्षात्कार : शमसुल इस्लाम 14
- कविता : प्रताम अनम 15
- ढाई आखर प्रेम का 16
- साक्षात्कार : एम.पी. परमेश्वरन 18
- तू कहता कागद की लेखि ... 21
- भारत ज्ञान विज्ञान जत्या 22
- केरल में साक्षरता 24
- बातचीत : कामगार 25
- निरक्षरता बनाए रखने की राजनीति 28
- कविता : रामकुमार कृषक 30
- साक्षरता, शिक्षा, संगठन 31
- कविता : गोरख पांडेय 32
- साक्षरता : सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य 33
- संतोखी काका का महाभारत 35
- जादुई शब्द 37
- ज्योतिबा : स्त्री शिक्षा में पहल 42
- कविता : केदार नाथ सिंह 44
- साक्षरता व गरीब अनपढ़ की दुनिया 46
- जब कलम हल से भारी हो जाए 48
- साक्षात्कार : जन शिक्षण अभियान समूह 54
- कामकाजी आदमी हूँ 60
- लेव तालस्तोय : साक्षरता पर कुछ विचार 61
- त्रिलोचन व सर्वेश्वर की कविताएं

होशंगाबाद विज्ञान
होशंगाबाद और विज्ञान पढ़ाने
तक ही सीमित नहीं है
बल्कि शिक्षा में नए सोच और
नवाचार का प्रतीक है।

संपादकीय

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन ने सम्पूर्ण साक्षरता के लिए देश के 36 जिलों का चयन किया है। योजना बनाने वालों के उद्देश्यों का स्वागत ही किया जा सकता है और प्रचार-प्रसार से जो भी जोश पैदा हुआ है वह जरूर एक उपलब्धि है। पर फिर भी, यह प्रश्न पूछना और समझना जरूरी है कि लोग अगर हस्ताक्षर करना सीख भी गए तो क्या होगा? क्या उन्हें कम मजदूरी मात्र इसलिए मिलती है क्योंकि वे पढ़ना नहीं जानते? मात्र साक्षरता समाज में एक निर्णायक भूमिका अदा नहीं करती है। पश्चिम बंगाल में जमीन के झगड़ों के 75,000 मामले सालों से कचहरियों में लटके पड़े हैं जिनमें लगभग 1,89,000 एकड़ जमीन वितरित होनी है। क्या भूमि संबंधी कानूनों को पढ़ लेने से व जान लेने मात्र से ये मामले लड़े जा सकते हैं? यह तो उस राज्य के हालात हैं जहां की सरकार भूमि वितरण को लेकर प्रतिबद्ध रही है बाकी जगह का तो हाल ही क्या पूछें। 'मानक भाषा' पर जोर भी इन अभियानों के दौरान सामने आया है। इससे स्थानीय भाषाएं अलग-थलग पड़ ही जाएंगी और सांस्कृतिक प्रभुत्व जमाने के प्रश्न खड़े ही होंगे। 'मानक भाषा' सिखाने का जोश कहीं राष्ट्रीयता के प्रश्नों को और उग्र न कर दे?

हाल ही में यह घोषणाएं होने लगी हैं कि केरल शत-प्रतिशत साक्षर राज्य हो गया है। पिछले दिनों 'पूर्ण साक्षरता' जैसी खबरों की होड सी लग गयी है। इस सब में होशंगाबाद क्यों पीछे रहे? खबर छपी कि होशंगाबाद का बाबई ब्लाक पूर्ण साक्षर हो गया! कभी-कभी आंकड़ों की दौड़ में शामिल होना अस्तित्व बचाए रखने की एक मजबूरी सी भी बन जाती है। बहरहाल, केरल में अट्टाहरवीं सदी में भी साक्षरता प्रतिशत देश के अन्य राज्यों से अधिक थी। वहां की उपजाऊ जमीन, अधिक वर्षा, चर्च के असर व खाड़ी के पैसों ने उसे सदियों से भारत के अन्य हिस्सों से काफी अलग बना दिया है। केरल एक समृद्ध राज्य है और वहां की समृद्धि का कारण है वहां की भौतिक परिस्थितियां। 1981 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार वहां की कुल साक्षरता 70 प्रतिशत थी और अरनाकुलम की 90 प्रतिशत से अधिक। 90 प्रतिशत से अधिक साक्षरता को लगभग 100 प्रतिशत कर देना और 20 प्रतिशत वाले क्षेत्र को 30 प्रतिशत तक भी कर पाना क्या समान बात है?

विकट सामन्ती शोषण, जातिगत हिंसा, साम्प्रदायिक वैमनस्य, मजदूरों में बेरोजगारी, जमीन से बेदखली, किसानों करते-करते लगभग भिखमंगें बनते लोग, रोजगार और खाने के बिना वर्ष के कुछ महीनों भूखे सो जाने वाले लोग, घर गर्म करने के लिए ईंधन और कपड़ों की कमी के कारण

सर्दियों की रातों में रात-रात भर नाचते लोग..... इनके बीच साक्षरता कैसे हो? क्या इनके कारणों को बदले बिना साक्षरता 20 से 30 प्रतिशत भी हो सकती है?

सम्पूर्ण साक्षरता अभियान कुछ मिथक अवश्य गढ़ रहा है। देश को साक्षर करने के प्रयास काफी लम्बे समय से यानि पिछले 40 वर्षों से लगातार चले आ रहे हैं। विभिन्न नामों से चलाए गये कार्यक्रमों की असफलताओं के काफी सटीक विश्लेषण भी हुए हैं, सरकारी और गैर-सरकारी दोनों। प्रतिबद्धता की कमी हमेशा विशेष कारण के रूप में सामने आयी है और अलग-अलग ढंग से अभिव्यक्त हुई है।

सामाजिक शिक्षा, वयस्कों की शिक्षा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व जरूरी विषय है पर इसे मात्र निरक्षरता और साक्षरता की श्रेणी में बांटकर, सिकोड़कर, साक्षरों को सर्वज्ञान सम्पन्न बता देना व निरक्षरों को बेअकल करार देना मात्र अपने अहंकार की तुष्टि करना है। यदि हम मानते हैं (जैसा कि साक्षरता में जुड़े कुछ संगठनों के दस्तावेजों से झलकता है) कि, 'वे (निरक्षर) समाज को चलाने के मसलों में सृजनात्मक रूप से भाग नहीं ले सकते। वे सिर्फ अपने शासक चुन सकते हैं। वे यह भी अकलमंदी से नहीं कर सकते। उन्हें गलत नेतृत्व मिलता है और वे गलतियां करते हैं।' तो हम उन्हें साक्षर भी नहीं बना सकते।

शिक्षा और खासतौर से गरीबों की शिक्षा कठिन साधना है जिसके लिए स्वयं शिक्षक को लोगों से बहुत कुछ सीखना व पहले सीखा हुआ भूलना जरूरी होगा। यह अपने आप से, अपने अहम् से, अपने पूर्वाग्रहों से ऐसी लड़ाई है जो जरूर अनुकूल माहौल में जीतना ज्यादा संभव होगी पर 'ओ भूख से मरने वालो लिखना-पढ़ना सीखो' जैसे तिरस्कारपूर्ण व असंवेदनशील गीतों से नहीं।



पढ़ाई छोड़कर साक्षरता अभियान



उमेश चौहान

आजकल 'आवश्यक' शब्द का उपयोग हर शासकीय पत्र के साथ किया जाने लगा है और इसी कारण से 'अतिआवश्यक' पत्रों की आवश्यकता महसूस नहीं होती। आज सामान्य और आवश्यक पत्र में अन्तर कर पाना असंभव सा होता जा रहा है। किन्तु हर कार्य आवश्यक होने लगा और हर आवश्यक कार्य राष्ट्रीय कार्य होने लगा तो एक साथ कितने राष्ट्रीय कार्य किए जा सकते हैं?

मध्यप्रदेश में अनेक बार अनेक राष्ट्रीय कार्य एक साथ प्रारंभ कर दिए जाते हैं जैसे मकान गणना (सूची), जनगणना, साक्षरता सर्वेक्षण, नयी शिक्षा नीति, आपरेशन ब्लेकबोर्ड के तहत-सेवाकालीन प्रशिक्षण, टू इन वन और दूरदर्शन पर शिक्षण का लाभ जैसी योजनाएं जोर-शोर से चल रही हैं। शासकीय कर्मचारी के लिए किसी भी प्रकार के राष्ट्रीय कार्य के आदेश की अवहेलना करना दंडनीय अपराध है। यदि अधिकारी चाहें तो नौकरी से बर्खास्त भी कर सकते हैं।

क्या शासन नियमित शैक्षणिक गतिविधियों, अर्धवार्षिक परीक्षाओं, खेलकूद प्रतियोगिताओं, विज्ञान एवं बाल खेलों को राष्ट्रीय स्तर के कार्य नहीं समझता? ये काम भी राष्ट्र का विश्व में स्थान बनाते हैं, राष्ट्रीय भविष्य की बुनियाद के स्थायी पत्थर हैं। यह बात अलग है कि म.प्र. शासन ने भावावेश में सन् 1984 में स्कूली छात्रों को 'जनरल प्रमोशन' देने का गौरव प्राप्त किया है।

यह कहां तक उचित है कि साक्षरता सर्वेक्षण करने के लिए या अन्य कार्यों के लिए पढ़ाई छोड़ दी जाये। गत सत्र में आरक्षण विरोधी आंदोलनों की वादियां रही हैं। इस वर्ष रामजन्म भूमि विवाद, आरक्षण विरोध और अन्य राजनैतिक सरगर्मियों के साथ राष्ट्रीय स्तर के कार्यों की भरमार आ गई है। हो गई पढ़ाई और कर दिया भारत के भावी नागरिकों को शिक्षा में पारंगत।

कल को समाज ऊंगली उठाएगा उन शरीफ गुरूजनों पर जिन्होंने बालक के चरित्र-निर्माण में एड़ी से चोटी का जोर

६ अगर हर कार्य आवश्यक होने लगा और हर आवश्यक कार्य राष्ट्रीय कार्य होने लगा तो एक साथ कितने राष्ट्रीय कार्य किए जा सकते हैं?

लगाया था। इस जोर के परिणाम स्वरूप कुछ चरित्रवान बालक ईमानदार नागरिक बन भी गए तो उनकी आवाज़ नक्कार खाने में तूती से ज्यादा न होगी।

समाज को छोड़िए शासकीय अधिकारियों को ही लीजिए। ये समाज के हितार्थ राष्ट्रीय कार्यों का बोझ सिर पर रखे रहते हैं। अधिकारों की पात्रता इन्हें होती है, किन्तु ये शासकीय कर्मचारी के कंधों पर बंदूक रखकर स्वयं को सुरक्षित रखे हैं। वक्त आने पर ये अपने अधीनस्थ कर्मचारी को निलंबित करने, वेतन रोकने, डांटने, स्पष्टीकरण देने की धौंस देना तो जानते ही हैं।

अधिकारी स्वयं दोषी हो तो क्या उच्च अधिकारी उनके प्रति कोई अनुशासनात्मक कार्यवाही करते हैं? कतई नहीं। अधिकारी केवल कानून का पालन कराने के लिए वचनबद्ध हैं। कानून तो दूसरों के लिए बनाया जाता है। अधिकारी कानून बदल सकते हैं, स्वयं को नहीं।

राष्ट्रीय शैक्षिक योजनाओं की दुर्दशा कौन नहीं जानता। प्राथमिक शालाओं को दिए गए टेलीविजन सेट्स प्रधान पाठकों के घर की शोभा बढ़ा रहे हैं क्योंकि शालाओं के भवन असुरक्षित हैं। जहां भवन सुरक्षित हैं वहां के सेट्स खराब हो गए हैं। रंगीन टेलीविजन अब रंगहीन होते जा रहे हैं। क्या अधिकारी शाला भवनों की हालत नहीं जानते थे? एक गंवार किसान भी भैंस खरीदने से पहले उसके दानापानी और टपरिया का इंतजाम पहले करता है। 'टू इन वन' (रेडियो कम टेपरिकार्डर) ही देखिए। उपसंचालक कार्यालय एवं विकास खंड स्तर के कार्यालय प्रभारी शिक्षकों के पास घूरे के कचरे की तरह 'टू इन वन' के ढेर लगे हैं। इनको उचित ढंग से न चलाने अथवा पूर्ण प्रशिक्षण न मिलने के कारण शिक्षकों द्वारा बेकार कर

दिया गया। 'आपरेशन ब्लैक-बोर्ड योजना' के ब्लैक-बोर्ड मौसमी शीतलहर और वर्षा के प्रकोप से पपड़ियों की पर्त जैसे फूल गए या नष्ट हो रहे हैं। ढोलक देखने में सुन्दर पर बजाते ही अंदर। ग्लोब ऐसे दिए हैं कि स्कूल पहुंचते-पहुंचते दो गत्ते के कटोरे बन गए। खिलौनों की पेटियां और किताबें अलमारी में बंद हैं, धूल तथा हवा से पूर्णता सुरक्षित।

इनके अलावा और भी कई वस्तुएं हैं जिनकी गुणवत्ता एवं चयन के लिए चयनकर्ताओं एवं कार्यकर्ताओं को राष्ट्रीय पुरस्कार अवश्य दिया जाये। शायद इन्हीं भावनाओं के कारण हम भारत में बनी वस्तुओं पर 'एक्सपोर्ट क्वालिटी' का मार्का तो लगा देते हैं पर विदेश व्यापार में दुबारा कोई मांग पैदा नहीं कर पाते।

मैं उन राष्ट्रीय नेताओं, अधिकारियों और समाज सुधारकों को खुला आमंत्रण देता हूं कि वे कृपया उपरोक्त सामग्रियों की गुणवत्ता को परखकर तो देखें। यदि वे दलाली पर क्रय की गई हों तो उन समस्त अधिकारियों और संबंधित व्यक्तियों को प्रकाश में लाकर निलंबित तो किया ही जाये लेकिन उनका सामाजिक बहिष्कार भी किया जाये।

राष्ट्र का स्तर बनाने के लिए गिरे स्तर की भावना से खरीदी गई वस्तुओं से बच्चों के भविष्य को संवारा नहीं जा सकता।

उमेश चौहान,
शासकीय कन्या उ.मा. शाला,
टिमरनी

एक प्रश्न चिन्ह : साक्षरता

रमाकांत अग्निहोत्री



आजकल साक्षरता का खूब डंका बज रहा है। अलग-अलग अभियान कोई केन्द्रीय तो कोई राजकीय तो कोई स्वैच्छिक। लगता है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' लगभग पूरा ही होने वाला है। साक्षरता न हुई संजीवनी बूटी हो गई। यही चर्चा कि साक्षरता से बीमारी, गरीबी, बेरोजगारी, अंधविश्वास आदि न जाने क्या-क्या दूर हो जायेगा। इस बात का न तो इतिहास साक्षी है। न यह बात तर्कसंगत लगती है। यही नहीं, लगता है वास्तविकता छुपाने के लिए हमने एक और आकर्षक भ्रम पैदा कर लिया। कभी औद्योगीकरण तो कभी हरित क्रांति, कभी नसबंदी तो कभी आपरेशन ब्लैक बोर्ड। अब कुछ और नहीं सूझा तो साक्षरता। गरीब को गरीबी में सुखी रखने के लिए कोई तो सब्जिचाग चाहिए। इस बार साक्षरता।

साक्षरता व ज्ञान का कुछ संबंध अवश्य है। जिसे हम लोग 'ज्ञान' का नाम देते हैं वह साक्षर हुए बिना हासिल नहीं किया जा सकता। यह काफी हद तक सही है। अधिकतर 'ज्ञान' आजकल किताबों, पत्रिकाओं, शोधग्रंथों आदि में ही उपलब्ध है। उसे जानने के लिए साक्षर होना जरूरी है। लेकिन इससे क्या यह समझा जाये कि जो साक्षर नहीं वह अज्ञानी है। क्या वह हर समाज जो साक्षर नहीं है अज्ञानी है। यह बात तो कुछ जमती नहीं। हर समाज के पास अपने अनुभवों, अपने पर्यावरण पर आधारित ज्ञान की पूंजी होती है। इस ज्ञान को आने वाली नस्लों तक पहुंचाने के कई तरीके हो सकते हैं। साक्षरता उन तरीकों में से केवल एक है। बोलचाल की भाषा से सदियों से बच्चे

अपने-अपने समाज की ज्ञान पूंजी को हासिल करते रहे हैं। हर गांव का बच्चा बिना साक्षरता के अपने गांव के पर्यावरण को समझ लेता है, आवश्यकतानुसार उसको बदल भी लेता है। वह गांव में प्रचलित गीत, कहानी व किस्से आदि भी आत्मसात कर लेता है। खेत जोतने, सिंचाई करने, फसल काटने आदि के निरन्तर नये तरीके भी सोचता रहता है। क्या यह सब ज्ञान नहीं? साक्षरता अभियानों के लिए यह समझना आवश्यक है कि जिन्हें वे साक्षर बनाना चाहते हैं वे अज्ञानी नहीं हैं। साक्षरता ही ज्ञान पाने का एक मात्र रास्ता नहीं। आज के युग में बहुत सा ज्ञान रेडियो, टी.वी., वीडियो आदि से उपलब्ध है। इनमें साक्षरता का कोई प्रश्न नहीं।

आखिर हम दुनिया के हर आदमी को साक्षर क्यों बनाना चाहते हैं? क्या दुनिया का हर आदमी साक्षर बनना चाहता है? चलो मान लिया कि पढ़े-लिखे लोग ज्यादा समझदार होते हैं (जबकि इस बात का कोई विशेष प्रमाण हमारे सामने नहीं- न अमेरिका में, न रूस में और न ईराक में, न पंजाब में, न कश्मीर में, न अयोध्या में और न शायद अपने घर में)। और उन्हें यह फैसला करने का

अधिकार है कि जो साक्षर नहीं उन्हें क्या करना चाहिए। अब आप ही बताइये आज के दफ्तरों, कारखानों आदि में बिना साक्षरता के गुज़ारा चलता है। जब तक सरमायेदारों को जरूरत थी अनपढ़ मजदूरों की, उन्हें अनपढ़ रखा गया, आज जरूरत है पढ़े-लिखे मजदूरों की, तो साक्षरता अभियान।

एक तर्क यह भी है कि साक्षरता से सामाजिक परिवर्तन आयेगा। इतिहास में कई उदाहरण इसके विपरीत हैं। साक्षरता का सफल विकास सामाजिक क्रांति के संदर्भ में हुआ है। सुना है कि पूरा केरल साक्षर हो गया। इसका क्या अर्थ है? क्या कुछ शब्द पढ़ने या कुछ वाक्य लिखने और 10 तक की गिनती को हम साक्षरता कहें? क्या हमारे पास ऐसे साधन व संदर्भ हैं कि हम साक्षरता बनाये रखें व उसका विकास करें? केरल के मछली पकड़ने वालों पर साक्षरता का क्या प्रभाव पड़ा? क्या वहां कोई सामाजिक परिवर्तन हुआ या कोई ऐसी प्रक्रिया आरंभ हुई जिससे आने वाले बच्चों का भविष्य सुधर जायेगा? ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन पर गहराई से विचार होना चाहिए।

साक्षरता को लेकर कई अन्य प्रश्न भी हैं जिन पर अभी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। साक्षरता के भाषाई व मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। साक्षरता किस भाषा में दी जाये? किसी वक्त इस बात का सहज उत्तर था सीखने वाले की बोलचाल की भाषा में। कुछ देर यह उत्तर भी प्रचलित रहा- क्षेत्र की मानक भाषा में। भारत जैसे बहुभाषी देशों में जहां भाषा का प्रश्न धर्म, संस्कृति, व्यक्तिगत पहचान, इतिहास, राजनीति आदि से जुड़ा है, इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं। बोलचाल व लिखने की भाषा में काफी अन्तर है। बोलचाल की भाषा का सदैव एक संदर्भ रहता है-आसपास की चीजें, चेहरे के हाव-भाव, हाथ व आंखें आदि बोलचाल की भाषा में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लिखने में यह कुछ नहीं होता। संदर्भ बनाना पड़ता है।

फिर यदि नये तरह ही की भाषा सिखानी है तो क्यों न क्षेत्र की मानक भाषा में ही सिखायी जाये। और फिर क्षेत्र की मानक भाषा में कई तरह की सामग्री उपलब्ध रहेगी जो कि सीखने वालों की बोलचाल की भाषा में नहीं होगी। सामाजिक परिवर्तन लाने में भी मानक भाषा का अधिक योगदान रहेगा। लेकिन इस सब का अर्थ क्या यह नहीं होगा कि सदा से पिछड़ी बोलचाल की भाषाएं कभी लिपिबद्ध न होंगी और धीरे-धीरे समाप्त हो जायेंगी। क्या एक बहुभाषी देश की मर्यादा इसमें है कि साक्षरता व शिक्षा की सभी प्रक्रियाएं बहुभाषी हों व साक्षरता दोनों में साथ-साथ हो-बोलचाल की भाषा में व मानक भाषा में। बहुत सी लिपियां जानना व एक ही लिपि में कई भाषाएं लिखना इस देश के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्या किसी ने यह जानने की कोशिश की है कि सीखने वाला क्या सीखना चाहता है। शायद वह अंग्रेज़ी लिखना चाहता हो। शायद वह कुछ काम करने के संदर्भ में शिक्षा पाना चाहता है। क्या ऐसा तो नहीं कि दिल्ली में योजनाएं बनाने वालों, साक्षरता कक्षा में पढ़ाने वालों व गांवों में सीखने वालों में इतनी बड़ी मानसिक खाई है कि साक्षरता अभियानों की असफलता निश्चित है? भाषा सीखने के कुछ सर्वमान्य सिद्धांत हैं। जैसे - भाषा रुचिकर संदर्भों में ही सीखी जाती है। सीखने वाला वह सब एकदम से नहीं बोलने लगता जो उसे सिखाया जाता है। यदि भाषा के प्रयोग के उचित संदर्भ स्पष्ट नहीं हैं तो सीखने वाले की भाषा सीखने में कोई विशेष रुचि न होगी। गलतियां करना सीखने की प्रक्रिया का एक स्वाभाविक हिस्सा है। भाषा की ध्वनियों व अक्षरों में गहरा संबंध होता है लेकिन यह संबंध समय के साथ-साथ बदलता रहता है और इस बदलाव में अनेक सामाजिक, राजनैतिक व ऐतिहासिक कारक प्रभाव डालते हैं। क्या साक्षरता अभियानों में इन सब बातों का ध्यान रखा जाता है?

डॉ. रमाकांत अग्निहोत्री,

भाषा विज्ञान विभाग, कला संकाय

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली - 110 007

लक्ष्मीधर मिश्र से बातचीत

राष्ट्रीय साक्षरता अभियान के प्रमुख निदेशक लक्ष्मीधर मिश्र से प्रेमा विश्वनाथन की बातचीत के अंश

1991 की जनगणना में साक्षरता की दर में वृद्धि हुई है। इसमें राष्ट्रीय साक्षरता अभियान का कितना योगदान रहा है?

● केरल जैसे कुछ राज्यों में साक्षरता के आंकड़ों में जो बड़ी बढ़ोत्तरी हुई है उसे हम सीधा-सीधा राष्ट्रीय अभियान के प्रयासों का फल मानते हैं। 4 फरवरी, 1990 को वी.पी. सिंह ने एर्नाकुलम जिले को देश का पहला पूर्ण साक्षर जिला घोषित किया। उसी दिन हमने पूर्ण-साक्षरता अभियान की भी शुरुआत की थी। तब से अब तक एक साल से अधिक हो चुका है और इस कार्यक्रम की गति कम नहीं हुई है।

स्वयंसेवकों के अनुमान से उन लोगों ने 30 लाख लोगों को साक्षर बनाकर करीब-करीब शत-प्रतिशत का लक्ष्य पा लिया है। करीब-करीब इसलिये कह रहा हूँ क्योंकि पालघाट, इडुक्की और वायनाड इलाकों के लगभग 5 लाख वनवासी इस अभियान के अंतर्गत नहीं आ पाये हैं। उनके लिये हमारी अलग से एक उपयोजना है। लेकिन यह मानना होगा कि केरल में साक्षरता का विकास एक लगातार प्रक्रिया है जो उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही चली आ रही है।

पर क्या आपको नहीं लगता है कि केरल एक अपवाद है?

● हां, कुछ अर्थों में केरल अपवाद है। भौगोलिक रूप से यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ यातायात और संचार की समस्याएं काफी कम हैं और जनसंख्या का घनत्व भी अधिक है। इसीलिए वहाँ किसी कार्यक्रम को लागू करना बहुत आसान है।

दूसरा कारण ये भी है कि यहाँ 300-400 साल से शिक्षा की एक मजबूत स्थानीय परंपरा रही है, जिसे अन्य जगहों पर 'पाठशाला' व्यवस्था कहते हैं। साथ ही ईसाई मिशनरी कार्यों और राज परिवार के अनुदान ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लेकिन इन सबसे महत्वपूर्ण योगदान रहा है तीसरे दशक में शुरू हुए ग्रंथशाला आंदोलन का, जिसके परिणामस्वरूप आज हर गांव में एक या उससे अधिक पुस्तकालय है। ग्रंथशाला के इस राज्यव्यापी तंत्र ने साक्षरता को बरकरार रखने में एक ठोस भूमिका अदा की है।

केरल शास्त्र साहित्य परिषद (के.एस.एस.पी.) की भूमिका के बारे में क्या कहना चाहेंगे आप?

● के.एस.एस.पी. काफी निकट से जुड़ा रहा है इन अभियानों में और एर्नाकुलम अभियान को लागू कराने वाली संस्था यही थी। इसके लिये हमने इन्हें 80 लाख रुपये भी दिये थे। एर्नाकुलम की सफलता से उत्साहित होकर उन्होंने पूरे राज्य की जिम्मेदारी ले ली और मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में केरल साक्षरता समिति के नाम से अपनी राज्य समिति बनाई। परिणाम सामने था - साक्षरता की दर 70 प्रतिशत से सीधा 90 प्रतिशत तक पहुंच गयी। और इसका पूरा श्रेय जाता है उन दो लाख अवैतनिक स्वयंसेवियों को, जिनमें 70 प्रतिशत महिलाएं थीं। राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम और पूर्ण साक्षरता अभियान के बीच यही एक महत्वपूर्ण अन्तर था।

केवल प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र खोलकर और 100 रु. प्रतिमाह पाने वाले प्रशिक्षक नियुक्त कर देने से ही सीखने वाले

६ कल्पना कीजिए कि एक किसान अपनी दुर्गति का चित्रण किसी नुक्कड़ नाटक में देख रहा है। वह अपनी दुर्गति की भयंकरता का साक्षात्कार कर पाता है - कि उसे अपनी न्यूनतम मजदूरी का आधा या एक तिहाई भी क्यों नहीं मिल पाता है?

आप तक दौड़ते नहीं आएंगे। उनको लामबंद (मोबिलाईज) करने की आवश्यकता होती है, एक दिशा देने की जरूरत होती है। उन्हें साक्षरता की ओर प्रेरित करने के लिए उन लोगों तक जाना जरूरी है, उनसे उनकी भाषा में बात करना जरूरी है।

एक कल्पनाशील कार्यक्रम बनाना होगा जिसके द्वारा लोगों तक यह बात पहुंचाई जा सके कि साक्षरता उन्हीं के हित में है। उन्हें यह भी बताना होगा कि साक्षर हो जाने पर उनको नौकरी नहीं मिल जाने वाली है, न ही उनके जीवन में तुरन्त कोई नाटकीय परिवर्तन ही हो जायेगा। पर साक्षरता एक औजार जरूर बन सकती है जिसके सहारे वो अपने जीवन में परिवर्तन ला सकते हैं।

लेकिन साक्षरता का प्रयोग लोग उस व्यवस्था को बदलने के लिए कैसे करेंगे जो उनके शोषण का कारण है?

● साक्षरता तो उस संघर्ष की शुरूआत मात्र है - अंतिम उपचार नहीं। शब्दों की दुनिया तक पहुंच जरूरी है। रेडियो और टेलीविजन की अपनी पहुंच है लेकिन वो काफी अस्थायी और उड़ता-उड़ता सा ही प्रभाव छोड़ पाते हैं, ये बातें लोगों को समझानी होंगी-भाषणबाजी से नहीं बल्कि नुक्कड़ नाटकों से, कठपुतलियों के खेल से, जत्थे या अन्य किसी इस तरह के माध्यम से जैसा सफदर हाशमी करते थे। अब कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में हजारों देवदासियां साक्षरता अभियान में उत्साहपूर्वक भाग ले रही हैं। शोषण और अत्याचार की जिन्दगी को अपनी नियति मान बैठी हैं उन्हें भी जोड़ने के लिए यह तो समझना ही होगा कि किस तरह साक्षरता उनकी जिन्दगी में मौलिक परिवर्तन लाने में मदद कर सकती है।

राष्ट्रीय प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम इसमें असफल रहा- हम राष्ट्रीय साक्षरता अभियान में साक्षरता की मांग पैदा

करने की कोशिश करते हैं। हमने उन्हें साक्षरता की आवश्यकता को आत्मसात करवाया है। उदाहरण स्वरूप, कल्पना कीजिए कि एक किसान अपनी दुर्गति का चित्रण किसी नुक्कड़ नाटक में देख रहा है। वह अपनी दुर्गति की भयंकरता का साक्षात्कार कर पाता है - कि उसे अपनी न्यूनतम मजदूरी का आधा या एक तिहाई भी क्यों नहीं मिल पाता है?

लेकिन क्या यह शासकों के साथ संघर्ष को जन्म नहीं देगा?

● हमें इसके लिये तैयार रहना चाहिए। अगर सीखने वाले की मांग जायज हो तो कोई शक्ति उसे प्राप्त करने से नहीं रोक सकती। हालांकि अभी तक हमें किसी खास समस्या का सामना नहीं करना पड़ा है सिवाय बर्दवान जिले में, जहां भूमिहीन मजदूरों ने ज़मींदारों से न्यूनतम मजदूरी की मांग की मगर ज़मींदारों ने इसे अस्वीकार कर दिया और बाहर से मजदूर मंगवाए। इसके कारण विधि व्यवस्था की समस्या पैदा हो गयी। लेकिन स्वयं सेवकों ने उनकी मांगों को आगे बढ़ाया और ज़मींदारों को बाहरी मजदूर नहीं रखने दिए। साक्षरता का जनशक्ति निर्माण के औजार के रूप में उपयोग का यही मतलब है। अभी तक सभी राजनीतिक दलों ने हमारे प्रयत्न का स्वागत किया है।

अभी पिछले ही दिनों भारतीय जनता पार्टी के गढ़ नरसिंहपुर से एक कार्यकर्ता ने हमसे संपर्क किया। लेकिन भारतीय जनता पार्टी ने भी लोगों को साक्षर बनाने की उपयोगिता और आवश्यकता पर उंगली नहीं उठायी है। शायद इसका कारण यह है कि राजनीतिक दल साक्षरता से संबंधित व्यापक मुद्दों को अभी पूरी तरह समझ नहीं पाए हैं। उनकी समझ से हम अभी सिर्फ न्यूनतम शैक्षिक आवश्यकताओं पर ही जोर दे रहे हैं। एक बार ज्ञान के

क्षेत्र में प्रवेश कर जाने के बाद लोग सोचने समझने लगते हैं। उनके मन में समाज में हो रही बातों के बारे में कई प्रश्न उठने लगते हैं। वो सोचते हैं कि क्या बाल विवाह आवश्यक है, विधवाओं को अशुभ क्यों माना जाये?

क्या स्त्रियों से संबंधित इन मुद्दों पर जोर के कारण ही महिला साक्षरता में तेज़ बढ़ोत्तरी हुई है?

● जनगणना के मुताबिक पुरुष साक्षरता वृद्धि दर (8 प्रतिशत) को महिला साक्षरता वृद्धि दर (10 प्रतिशत) ने पीछे छोड़ दिया है। ऐसा खास कर बिहार, उत्तरप्रदेश और राजस्थान में देखने को मिला है। इसका एक कारण है राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम जिसके तहत औरतों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इससे पहले भी महिला साक्षरता का एक कार्यक्रम 1975-76 में शुरू किया गया था जो 7 साल तक लागू रहा। इसके अलावा आंगनवाड़ी कार्यक्रम का भी काफी योगदान रहा। आंगनवाड़ी के कार्यकर्ता भी तीन राज्यों और दस जिलों में 'महिला समस्या' कार्यक्रम के साथ काम कर रहे हैं। बंगाल के मिदनापुर जिले में भी एक समग्र प्रयास के तहत साक्षरता को स्वास्थ्य और परिवार कल्याण के साथ जोड़ कर लागू किया जा रहा है।

यह कार्यक्रम बड़े राज्यों और खास कर हिन्दी भाषी क्षेत्र में कितना सफल रहा है?

● स्वयंसेवकों के आगे बढ़कर नहीं आने के चलते मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और बिहार में हमें कोई खास सफलता नहीं मिली है। इसके कई कारण सामाजिक भी हैं जैसे ज़मींदारों के द्वारा गरीब किसानों का शोषण और कुछ कुरीतियों जैसे बाल-विवाह आदि।

वहीं दूसरी ओर हिमाचल प्रदेश में महिला साक्षरता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है क्योंकि यहां का सामाजिक ढांचा अधिक सहिष्णु और जनतांत्रिक है। यहां लड़कियों के साथ दोहरा व्यवहार कम ही होता है। केरल, मिजोरम, मेघालय व मणिपुर की तरह यहां सभी लड़कियां स्कूल जाती हैं। यहां तक कि साक्षरता सूची में सबसे नीचे रहने वाले

अरुणाचल प्रदेश में भी पिछले एक दशक में साक्षरता की दर में 25.54 प्रतिशत से 41.22 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है।

महाराष्ट्र जैसे राज्य में जहां ज्योतिबा फुले सरीखे समाज सुधारकों के प्रयास के फलस्वरूप वयस्क शिक्षा और खास कर महिलाओं की शिक्षा की मजबूत परंपरा रही है, क्या साक्षरता अभियान का काम आसान रहा?

● महाराष्ट्र में साक्षरता के क्षेत्र में कई नवाचार हुए हैं। सबसे अच्छे स्वयंसेवकों के लिए सावित्री बाई फुले पुरस्कार उनमें से एक है। स्वयंसेवी संस्थाओं का भी एक अच्छा तंत्र (नेटवर्क) है जो खासकर महिलाओं की शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रही है।

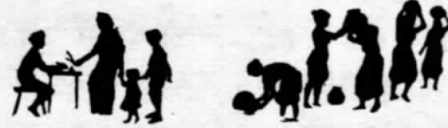
जनगणना के मुताबिक कई राज्यों में यह पाया गया है कि साक्षरता का प्रश्न जनसंख्या वृद्धि से जुड़ा हुआ है। इसका क्या मतलब है?

● हमने पाया है कि जब महिलाएं साक्षर हो जाती हैं तो वे परिवार कल्याण या टीकाकरण आदि बातों को जल्दी और आसानी से स्वीकार कर पाती हैं।

क्या आप इस मत से सहमत हैं कि छात्रों को एक साल अपने-अपने स्कूल कालेजों से छुट्टी लेकर गांवों में जाना चाहिये और साक्षरता का संदेश फैलाना चाहिये?

● इस बात में वजन है लेकिन यह एक झटके में नहीं किया जा सकता। क्यूबा के फिदेल कास्त्रो ने 1951 में एक साल के लिए स्कूलों और फैक्ट्रियों को नाटकीय ढंग से बंद कर दिया था और लोगों को साक्षरता के काम में लगा दिया था। क्यूबा में वैसे ही 75 प्रतिशत साक्षरता थी जो साल भर में ही 85 प्रतिशत तक पहुंच गई। पर भारत में ऐसा कर पाना संभव नहीं लगता। बिना सारे कारणों और परिणामों पर विचार किये ऐसा कदम उठाना अराजकता को न्यौता देने जैसा हो सकता है।

(7 अप्रैल 1991 की 'टाइम्स आफ इंडिया' से साभार)



क्या होगा लिख-पढ़कर?

साधना सक्सेना

साक्षरता का अर्थ जागरूकता नहीं है। बहुत ही निष्क्रियता से भी पढ़ने लायक बना जा सकता है। खासतौर से जनगणना में साक्षरों की गिनती में आने के लिए। पर इसका फायदा क्या है? लोगों में मात्र साक्षरता ही के आधार पर भेद करना बहुत बेमानी है पर यह किया जाता है और इस प्रकार बहुत ही बुनियादी बातें छुपा दी जाती हैं। जैसे, एक उदाहरण है 'शिशु मृत्यु दर' और निरक्षरता के बीच दिखाया जाने वाला तथाकथित संबंध। 'शिशु मृत्यु दर' अधिक होने के कई कारण होते हैं। एक प्रमुख कारण है साफ पानी न मिलना। पर अन्तर्संबंध देखने के लिए निरक्षरता के साथ जोड़ कर देखा जाता है और निष्कर्ष निकाले जाते हैं। उससे क्या पीने के साफ पानी की गम्भीरतम समस्या छुप जाती है? या साक्षरता इस समस्या को दूर करती है? साक्षर मांओं के बच्चे शायद तुलनात्मक रूप से कम मरते हैं क्योंकि न तो उन्हें उतने भयंकर रूप से पानी की समस्या का सामना करना पड़ता है और दूसरी तरफ सापेक्ष रूप में बेहतर दवाई सुविधा उपलब्ध है।

केरल एक ऐसा राज्य है जहां की शिशु मृत्यु दर सबसे कम है और साक्षरता सबसे अधिक। वहां प्रति 1,000 पुरुषों पर 1,302 महिलाएं हैं। (1981 की जनगणना के अनुसार)। प्रचार प्रसार में इसका कारण अधिक साक्षरता ही बताया जाता है जो काफी भ्रामक भी हो



सकता है। १९८१ के ही आंकड़ों के अनुसार दिल्ली की साक्षरता प्रतिशत 61.5 है (जो केरल के बाद दूसरे नम्बर पर है) और प्रति हजार पुरुषों पर मात्र 808 महिलाएं* हैं यानि पूरे देश में सबसे कम। क्या यह भी साक्षरता के कारण है? केरल का समाज मातृकुलीन समाज है और किसी भी समाज में औरत का ओहदा बहुत कुछ निर्धारित करता है, जिसमें औरतों की शिक्षा, शिशु मृत्यु दर और औरतों की संख्या प्रमुख है।

और दिल्ली में औरतें इतनी कम क्यों हैं? उसका भी कारण खोजना होगा। शायद मजदूरी और नौकरी पर आए पुरुष अपने परिवार गांवों में छोड़ आते हैं। कारण जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि सिर्फ दो आंकड़े दे देने से अपने-आप अन्तर्संबंध नहीं बन जाता, यह जानने के लिए कि कारण क्या है उन आंकड़ों के बारे में खुले दिमाग से सोचना ज़रूरी है।

राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सेमिनारों में स्त्री साक्षरता और छोटे परिवार का सीधा संबंध दिखाने वाले आंकड़े प्रस्तुत किए जाते हैं। साक्षरता की कई अन्य मान्यताओं के साथ ही यह मान्यता भी है कि अधिक जनसंख्या का कारण निरक्षरता है। प्रगतिशील लोग यह तर्क भी पेश करते हैं कि गरीबों की मजदूरी-आधारित या कृषि आधारित अर्थव्यवस्था में अधिक बच्चों की ज़रूरत होती ही है। हो सकता है यह तर्क सही हो पर यह तय किए हुए ऐच्छिक फैसले के तहत नहीं होता। बहरहाल कारण चाहे नवजात

* स्रोत - स्टीडीस्टिकल आउटलाइन आफ इन्डिया (1986-87) टाटा सर्विसेज लिमिटेड, डिपार्टमेंट आफ इकोनोमिक्स एन्ड स्टीडीस्टिक्स द्वारा प्रकाशित

शिशुओं की असमय मृत्यु हो या आर्थिक परिस्थिति, दोनों में अधिक बच्चे एक मजबूरी है, निरक्षर या अनभिज्ञ होने के कारण देश की प्रगति में बाधक बनने का तयशुदा फैसला नहीं! प्रजाका (प्रजनन जागरूकता कार्यक्रम जिसका जिक्र बाद में किया गया है) के काम के दौरान कम से कम दो गांवों की औरतों ने हम से बहुत साफ-साफ कहा था कि वे 3 से ज्यादा बच्चे नहीं चाहतीं। 3 ज़िन्दा बच्चे यानि यदि शिशु मृत्यु दर या बाल मृत्यु दर ज्यादा है तो स्वाभाविक है कि बच्चे 3 से ज्यादा पैदा होंगे।

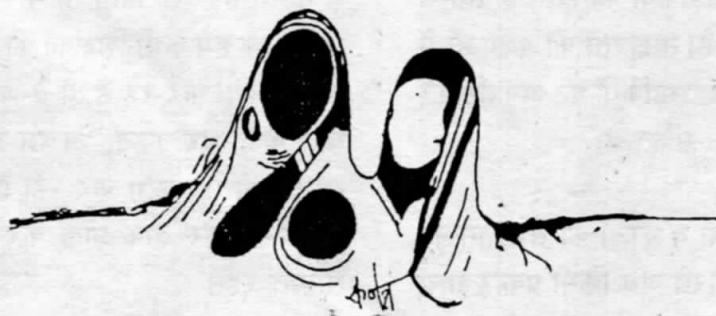
यह भी सच्चाई है कि अधिक बच्चों का सबसे अधिक बोझ औरत पर, उसकी स्वतंत्रता पर, उसकी कुछ और कर पाने की संभावना के खत्म होने पर पड़ता है। साक्षरता और छोटे परिवार का सरलीकृत सीधा संबंध दिखाकर पढ़े-लिखे लोग गरीबी के दुष्क्रम में फंसी औरतों के ऊपर देश की सारी समस्याओं की ज़िम्मेदारी लादकर अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। यह विश्लेषण भ्रामक इसलिए भी है क्योंकि अनपढ़ और आधुनिक समाज में कम से कम वास्ता पड़ी हुई औरत भी मात्र बच्चे पैदा करने वाली व पालने वाली मशीन नहीं बनना चाहती। यह एकदम स्वाभाविक व तार्किक बात है क्योंकि आज की समाज व्यवस्था में गर्भधारण से लेकर बच्चे पालने तक की पूरी-पूरी ज़िम्मेदारी औरतों की होती है। इस तरह की 'ज़िम्मेदारी' के कारण पैदा हुई हर तरह की शारीरिक व मानसिक तकलीफों की भुक्तभोगी महिला ही होती है जो मुक्ति चाहेगी ही। योजनाएं बनाने वालों व थोपने वालों से कहीं अधिक व्यग्रता से। मुक्ति की तमन्ना कितनी स्पष्ट अभिव्यक्ति पाती है यह अलग बात है। हालांकि बच्चे गिराने की गोली, इन्जेक्शन ढूंढती व जानलेवा

तरीकों से गर्भपात करवाने का प्रयास करती औरतें साक्षी हैं इस बात की कि वे मुक्ति चाहती हैं।

इसमें जानकारी की कमी भी एक पहलू है हालांकि जानकारी इकट्ठी करने की पहल औरतों की अपनी होती है चाहे सहेलियों से बात करके, चाहे सुनी-सुनाई बातों से। इस व्यग्रता में एक महत्वपूर्ण बाधा, तकलीफ और शिकायत है औरतों की कि मर्द साथ नहीं देते। इसे साक्षरता से कैसे दूर किया जाएगा?

हमारे अनुभव

वैज्ञानिक जानकारी अपने अधिकारों की चेतना व लड़ने की ताकत पैदा करेगी इसी समझ से किशोर भारती संस्था ने 1988 में प्रजनन जागरूकता के कार्यक्रम की कल्पना की थी। सोचा यह गया था कि प्रजनन के संबंध में चेतना जागरण का काम स्त्रियों और पुरुषों दोनों के साथ किया जायेगा पर पुरुषों ने, आमतौर पर, अरुचि दिखाई। तर्क यह था कि हमें क्या करना है सीखना तो औरतों को है। हम साथ हैं! हम तो हर तरह से तैयार हैं। कुछ पुरुषों ने खुले आम औरतों को मीटिंगों में आने से रोका, धमकी दी, मारा-पीटा और कहा 'सिखाने वाली औरतें चरित्रहीन हैं, गन्दी बातें करती हैं!' कुछ ने गांव कोटवार से कहकर मीटिंगें बंद करवाने का प्रयास किया। कई औरतों ने छिपकर आकर बताया कि वे नहीं आ सकतीं। ज्यादा तेज़ औरतों ने रास्ते निकाले। उन्होंने घर में बताया कि वे 'भजनों' में या फलां के यहां 'बैठने' जा रही हैं। हालांकि गरीब व नीची जाति की औरतों को छूट ज्यादा रही पर वे हमेशा छोटे बच्चों के साथ आयीं। पुरुष चाहे घर में



शिक्षा, वयस्क शिक्षा व साक्षरता क्या एक निरापद विषय है? क्या लिखना-पढ़ना मात्र एक हुनर है? क्या लिखा या पढ़ा जा रहा है, क्या वह महत्वपूर्ण नहीं है? इस संदर्भ में महात्मा फुले ने एक महत्वपूर्ण व गहरी बात उन्नीसवीं सदी में कह दी थी कि "ब्राह्मण जो ज्ञान देते भी हैं वह दलितों के लिए अपमानजनक है।" जनता सरकार के समय में राजनारायण के स्वास्थ्य मंत्रीत्व के दौरान दाइयों के प्रशिक्षण की एक व्यापक योजना बनी थी। बनखेड़ी ब्लाक के प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में भी, जनवरी की ठण्ड में, अनपढ़, गंवार दाइयों का प्रशिक्षण शुरू हुआ था। ऐसी दाइयों का प्रशिक्षण जिन्होंने पीढ़ियों से बच्चे पैदा करवाने का काम गांवों की अभावग्रस्त रहे थे जिनका खुद का इस विषय नहीं और दूसरे अनपढ़ों (दाइयों) डॉक्टर साहब के हर वाक्य में धोतियाँ पहने, ठण्ड में ठिठुरती, लिए खीज और तिरस्कार था। सारी समस्याओं की जड़ हैं और लिए ब्लेड पानी में उबालना चाहिये दाइयां चुपचाप सुनती थीं और बाहर तो सार (जहां ढोर बांधते हैं) में पड़ी थी। पानी?" सुई बिना उबाले बीसियों बच्चों को होती, फिर?

विभाजन' जैसे व 'साक्षरता निरापद है' जैसे विचार जैसे व 'साक्षरता निरापद है' जैसे विचार

सुविधाजनक और अन्यायपूर्ण हैं जो न केवल इन्सानों को समझने में वरन् पढ़ने लिखने के बारे में ढेरों भ्रम पैदा करते हैं - जानबूझकर शायद। और वयस्कों को साक्षर करने के प्रयास में दंभी पढ़े-लिखे उन्हें सिखाने जाते हैं। यह मात्र सिखाने की ध्वनि लगभग सभी वयस्क साक्षरता की प्राईमरों से निकलती है। यही वैचारिक ढांचा है, दृष्टिकोण है जो हावी है और वयस्क साक्षरता इसलिए न्यूट्रल नहीं है।



बैठे हुक्का गुड़गुड़ाएं, चाहे पत्ते खेलें, चाहे सो जाएं पर बच्चों को नहीं रख सकते। यह भी सक्रिय असहयोग का एक तरीका है। महिलाओं की घर से बाहर की भागीदारी या तो बच्चों की चिल्ल-पों के साथ होती है या भागीदारी मात्र सासों और अनब्याही लड़कियों की होती है क्योंकि बाकी घर में बच्चे संभालती हैं। साक्षरता की कक्षाओं में 15 से 35 वर्ष की शादी-शुदा लड़कियों की अनुपस्थिति भी इस वास्तविकता का एक संकेत है।

घर के काम, मजदूरी का बोझ व बच्चों को संभालने की थकान के बाद ऊंघती हुई औरतें जब किसी प्रकार साथ जुड़ती तो बहुत ध्यान से, बहुत मेहनत से समझने का

प्रयास करतीं और तब तक कोई सयानी बाई बीच में टोकती, 'हमारे यह सब सीखने का कुछ फायदा नहीं यह तो तुम मर्दों को पहले बताओ तभी कुछ अर्थ है।' 'तुम ही बताओ मर्दों को' हम कहते तो वे कहतीं 'हमारी क्या वे मानते हैं? ऐसा होता तो मुश्किल ही क्या होती?' मुझे याद है कि हम कभी शिक्षकों को बताने की कोशिश करते कि हम क्या कर रहे हैं तो वे जल्दी, झेंप कर या वैसे ही बात काट कर कहते, 'अच्छा-अच्छा आप लेडिजों की समस्याओं पर काम कर रही हैं।' पुरुषों की भागीदारी कुल मिलाकर ताक-झांक करने या व्यंग्य करने तक सीमित रही।

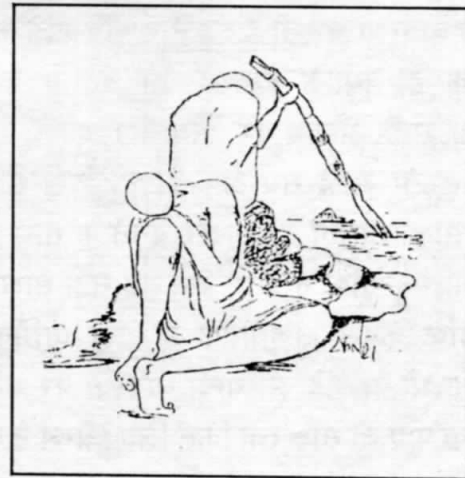
हमारा अनुभव है कि प्रजनन की वैज्ञानिक जानकारी,



औरतों को गैर बराबरी देने वाले पुरुष प्रधान समाज की गैर वैज्ञानिक जानकारी को चुनौती देती है और यह असंतोष का एक गहरा कारण होता है। जो ढका छिपा है वह खुल जाता है, उघड़ जाता है। पुरुष भी बांझ हो सकता है ऐसी जानकारी सामने आती है। प्रजनन से जुड़ी बीज और ज़मीन की अवधारणा व्यापक और सांस्कृतिक रूप से बहुत गहराई तक स्वीकारी गई व आत्मसात की गई समझ है। आयुर्वेद में प्रजनन की समझ के आधार में अभी भी यही माना जाता है कि बीज पुरुष का है और औरत धरती है। बीज ऊसर धरती पर नहीं पनपता इसलिए औरत बांझ है, और कसूरवार है। भ्रूण का विकास अदृश्य ताकत के द्वारा मूर्ति गढ़ने के समान माना जाता है जिसके पूरे होने पर लिंग का निर्धारण, गढ़ने वाली 'बेमाता' पर निर्भर करता है। 'बेमाता' खुश है तो जतन से पुरुष लिंग गढ़ती है, नाखुश है तो जल्दी में कुल्हाड़ी मारकर योनि बनाती है। वैज्ञानिक जानकारी जब हर 'अच्छे' या 'बुरे' परिणाम के लिए पुरुष और स्त्री को समान रूप से ज़िम्मेदार ठहराती है तो सबसे ज़्यादा चोट पुरुष प्रधानता को लगती है जो प्रजनन के दायरों में चाहे पढ़ी-लिखी औरतें हों चाहे अनपढ़, सब पर समान रूप से हावी हैं।

हमारा यह अनुभव रहा है कि 'अज्ञान' का स्तर पढ़ी-लिखी व अनपढ़ औरतों में समान था। अनपढ़ औरतें बिना हिचक के अपने इस विषय के वैज्ञानिक ज्ञान से अनभिज्ञता को स्वीकारती थीं व मुक्त होकर प्रश्न पूछती थीं जबकि पढ़ी-लिखी औरतें आमतौर पर, 'हम जानते हैं' का नकाब-सा पहने होती थीं।

साक्षरता से क्या हो सकता है क्या नहीं हो सकता इसको साफ-साफ तय कर पाना काफी पेचीदा मसला है। यह काम किन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में किया जा रहा है, कौन कर रहा है, क्यों कर रहा है ये सब बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। आखिर क्या सभी पढ़े-लिखे लोग जागरूक हैं? क्या वे कर्मकांडी, अंधविश्वासी, सांप्रदायिक, गैर वैज्ञानिक, लकीर के फकीर नहीं हैं? क्या वे वास्तव में पढ़ने के शौकीन हैं और मेहनत करके जागरूकता बढ़ाने वाली सामग्री को ढूँढते और पढ़ते हैं? और क्या गरीबी के प्रश्न ज़मीन और स्रोतों के असमान वितरण के प्रश्न नहीं हैं? स्त्री-पुरुष के समान रिश्तों के प्रश्न नहीं हैं? कौन सी साक्षरता है जो इन बुनियादी मुद्दों को छुएगी? और छुएगी भी तो बदलेगी कैसे? क्या हम सब एक ही साक्षरता की बात करते हैं? आपत्ति समाज के विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक घटकों के बीच सहसंबंधों को खोजने और परिस्थिति को समझने के प्रयास से नहीं है वरन् हर समस्या की जड़ को निरक्षरता में ढूँढने और हल साक्षरता है ऐसी फिजां बनाने से है।



शमसुल इस्लाम से बातचीत

(शमसुल इस्लाम जनपक्षीय सांस्कृतिक समूह 'निशांत नाट्य मंच', दिल्ली के सदस्य हैं, रंगकर्मी हैं और दिल्ली विश्वविद्यालय के सत्यवती कालेज में पढ़ाते हैं।)

आज जो साक्षरता का दौर चला है उस पर आपको क्या कहना है?

● साक्षरता का यह काम सचमुच में धर्म की ठेकेदारी है। शिक्षा के नाम पर व्यापार है। कुल मिलाकर कागजी कार्यवाही है। इस तरह के सरकारी कार्यक्रमों से लोग लाखों करोड़ों रुपये कमाएंगे। मुझे मेरे कालेज के प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का इन्वार्ज बनाया, मेरी अनुपस्थिति में। अन्त में खर्च किए हुए पैसे पर हस्ताक्षर के लिए मेरे पास लाए। बहुत ही महंगी स्टेशनरी, खासतौर से कापियां खरीदी गई थीं।

आपके हिसाब से साक्षरता का परिप्रेक्ष्य क्या होना चाहिए?

● साक्षर क्यों? किस चीज़ के लिए? क्या इसलिए ताकि जो व्यवस्था चाहती है वह सीख लें? ये तो काफी खतरनाक है। क्योंकि व्यवस्था तो बताती है कि धर्मान्धता, सती, औरतों पर अत्याचार, दहेज, दौलत जोड़ना, लूटना आदि सब ठीक है। क्या यही सीखने के लिए साक्षर बनना है? साक्षर बनने के साथ-साथ आलोचनात्मक दृष्टि न दें तो क्या यह सही साक्षरता होगी? दृष्टि केवल राजनैतिक ही नहीं धार्मिक व सांस्कृतिक भी है। यदि इस गन्दी व्यवस्था पर सवाल नहीं उठवा पाए तो साक्षरता किस लिए? ब्रेख्त ने कहा

था कि 'जो जैसा है वैसा नहीं रहेगा' और यदि साक्षरता से जो जैसा है वैसा ही रहा या सुदृढ़ हुआ तो आखिर साक्षरता किसलिए? यदि साक्षरता अभियान अमानवीयकरण के खिलाफ घिन या गुस्सा नहीं पैदा करता तो लोगों को अन्धेरे में ही डालेगा। आखिर पंजाब व काश्मीर में साम्प्रदायिकता साक्षर लोग ही फैला रहे हैं? औरतों, ग़रीबों, मज़दूरों, दलितों, हरिजनों के संदर्भ में साक्षरता लुटेरों का दृष्टिकोण देती है या उनके (ग़रीबों के) पक्ष का दृष्टिकोण देती है इसे कसौटी बनाकर ही साक्षरता कार्यक्रमों को आकूंगा।

मज़दूर आंदोलनों में जुड़े हुए बहुत सारे लोग साक्षरता को कोई खास महत्व नहीं देते बल्कि उनके लिए यह कोई प्राथमिक मुद्दा ही नहीं है। आपको इस पर क्या कहना है?

● यह सही है कि जनपक्षीय लोगों के लिए यह कोई मुद्दा नहीं है। प्रगतिशील आंदोलनकारियों ने शिक्षा का मुद्दा पूरी तरह से प्रतिक्रियावादियों के हाथों में छोड़ दिया है। हिन्दू इलाकों में आर्य समाज, आर.एस.एस. व मुस्लिम इलाकों में जमाएते इस्लामिया के लिए।

आप लोग शिक्षा को कितना महत्व देते हैं?

● हमने एक बस्ती में पिटने वाली औरतों की कक्षा शुरू की। इसके तीन हिस्से हैं।

1. क, ख, ग, की क्लास।
2. प्रेमचन्द, शरतचन्द्र, पंचतंत्र आदि की कहानियां सुनाते हैं।
3. वे अपनी कहानियां सुनाती हैं।

ये औरतें बिल्कुल अनपढ़ और गरीब हैं। हम अन्य संगठनों के साथ शिक्षा पर संवाद करते हैं। हमारा मानना है कि जब तक आप जानेगे नहीं तब तक लड़ भी नहीं सकते। निशांत का उद्देश्य ही है जीवन, संघर्ष और सृजन।

निशांत ने पढ़ने लिखने के महत्व को समझा है, माना है। इसीलिए सामग्री छापते हैं जिसे दलित बस्तियों में पढ़ते हैं और लोग सुनते हैं। हमारे स्टीकर्स, हमारे नाटक, हमारे गीत ये सब साक्षरता और जन शिक्षण के काम का हिस्सा हैं।

राजनैतिक पार्टियां शिक्षण और साक्षरता को क्या महत्व देती हैं?

● पार्टियां शिक्षण और साक्षरता को शून्य महत्व देती हैं। क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य में रोजी-रोटी व जुर्म के खिलाफ लड़ाई के लिए तैयार होना है, पर जन शिक्षण के लिए नहीं। आखिर कितने जनवादी आंदोलनों ने महिलाओं के मुद्दे उठाए हैं?

मैं कम्युनिस्ट आंदोलन में आया तब 11 वीं-कक्षा में था। माओ, लेनिन, एंजेल्स आदि को उर्दू में मैंने स्टडी क्लासेज़ में पढ़ा, पर मेरी असली साक्षरता देश घूमकर हुई। कोई आलोचनात्मक दृष्टि मुझे स्टडी सर्कल्स से नहीं मिली। चक्कर यह है कि वहां भी हमें रेडीमेड सच दिया जा रहा है। सच ढूंढने में मदद नहीं की जा रही। मुख्यतः पार्टी लाईन आगे बढ़ाने का काम हो रहा है। दुनिया को समझने का शिक्षण नहीं हो रहा। साक्षर लोगों ने दुनिया को जानना बन्द कर दिया है इसलिए साक्षरता अभियान की सही रूपरेखा नहीं उभर पा रही है।

शमशुल इस्लाम
निशांत नाट्य मंच,
ए-2/15 मॉडल टाऊन,
दिल्ली-110 009



थोड़ा

क र ख

ही

ग घ

पढ़ा

तो

बाबुल ने

देतो दैनी, मोकों बेसुमार रे।

थोड़ी ही पढ़ातो लिख देती बात चार रे॥

देवरऊ छेडवे में, आयेगो न बाज रे।
दूसरे से लिखवाऊं, जानेगो समाज रे॥
बिना पढ़े-लिखे भयो जीवन खुवार रे।

नेकऊ न पढ़ी हती दीनू की बहुरिया।
दवा जान दयो कछू जानी न बहुरिया।
पीकें सोयो ऐसो फिर जागो न दुखार रे।

दस दिन भेज दादी, घर न बिठावती।
पढ़ी-लिखी होती अम्मा, घर ही पढ़ावती।



मेरे मन में न मरते,
मन के विचार रे।
मेरो भैया पढ़ो होतो,
दुख न उठावतो।
लाला, मुंशी, थानेदार,
सबको बतावतो।
बनिथा न लिख लेतो,
दस के हजार रे।

खूब पढ़ाऊंगी मैं, अपनी छोटी बिटिया।
मो-सी न दुखी होगी, लिखवें को चिठिया।
चिट्ठी लेके काऊ के न, घूमेगी दुवार रे।

प्रताप अनम

'कारवां चलता रहेगा' से साभार



ढाई आखर प्रेम का



प्रिय साधना

आपका पत्र 24.11.90 को मिला आपने पत्र जल्दी भेजने को कहा लेकिन यहां महाराष्ट्र सरकार ने पेट्रोल डीजल में कटौती कर 2150 एस.टी. बसेस कम की हैं। जिसकी वजह से 20-25 हजार कामगार कर्मचारियों को काम से निकाला जायेगा। और आम जनता विध्यार्थियों को भी बड़ी असुविधा हो रही है। इसलिये हमने एक परचा निकाला और सही मुहिम कर रहे हैं। इसी काम से लगे रहने से पत्र देने में देर हुई है। आपने होशंगाबाद विज्ञान के लिये लेख मांगा है लेकिन मैं लेख के रूप में शायद नहीं लिख पाउंगी। फिर भी कोशीश करती हूं। मैं निर्मला स्त्री मंच श्रमीक एकता ग्रुप में काम करती हूं। वैसे मैं राजनीतिक-सामाजिक काम में 82 से जुड़ी हूं।

मुझे तीसरी कक्षा पास करने के पहले ही स्कूल छोड़ना पड़ा उसका कारण मेरे पिताजी पुलिस में नौकरी करते थे। हम दो बहने थीं बड़ी बहन मेरे से 6-7 साल बड़ी थी। वो 7 वीं में और मैं 2 री में पड़ते थे कि पिताजी एकाएक बीमार हो गये और कुछ दिन के बीमारी के बाद चल बसे तब मैं 8 सालकी थी।

उसके बाद हम लोग याने मां, दो बहने और दादी अमरावती जिले में मोर्शी रोड पर पिताजी के गांव रहने आये। दादी खेत में काम करके हम लोगों का पालन कर रही थी। वहीं मुझे 3 री में डाला गया पिताजी के जाने का दुख और बाहरी दुनिया का व्यवहार मां ने कभी देखा नहीं था इसलिये वो हमेशा बीमार रहने लगी उसके इलाज के लीये गांव-गांव के ओझों के पास कोई डाक्टर के पास जाना हो तो हमारी दादी पूरे परिवार को ले जाती थी की लड़कीयों को कहां रखे। ऐसे में ही मां भी चल बसी उसके बाद बहन भी बीमार रहने लगी फिर से उसके इलाज में भी वही चक्कर चला और 6-8 महिने बाद वो भी चल बसी।

उसी वक्त आर्थिक सवाल भी था। पिताजी का जो थोड़ा बहुत पैसा मिला था वो दोनों मां बेटी के इलाज में खत्म होने को आया था। और ये सब घटनाओं से बुढ़ी दादी और मेरे बाल मन पर बहुत बड़ा आघात था। दादी बीमार रहने के साथ-साथ मानसिक संतुलन भी खो बैठी थी। अब दोनों का पेट पालना मेरे जिम्मे था। और मैं खेत में काम करने जाती थी। ऐसे में कुछ महिनों बाद दादी भी चल





बसी और मैं फिर कभी स्कूल का दरवाजा नहीं देख पाई। मुझे पढ़ने का चाव बचपन से था लेकिन पढ़ने के लिये कुछ मिल नहीं पाता था। जो बच्चे स्कूल जाते उनकी बालभारती लेके मैं उस वक्त पड़ती थी। दादी जाने के बाद पिताजी के मामा नागपुर से मुझे सहारा देने आये और मैं नागपुर चली आई। यहां घरकाम के बदले दो वक्त की रोटी तो मिलती थी लेकिन पांव पड़ने के बाद भी स्कूल जाने को नहीं मिला। काका थे जो 11 पास थे और वो घर में गुलशन नंदा, रानू के उपन्यास लाते थे कभी जासूसी उपन्यास लाते थे। ये ही सब मैं टाइम मिलने पर पड़ती थी। आज मैं पढ़ना भुली नहीं तो इसका कारण मैं जो भी कचरा पड़ी लेकिन मैं अपनी पड़ाई उसी उपन्यास के कारण जिन्दा रख पाई और न्युज पेपर जब भी मिले पड़ती थी।

काम की चीजे पढ़ने को तो 82 में संघटन से जुड़ने के बाद ही मिला और तब से ही मार्क्स-लेनिन, औरतों की पत्रिका पडने को मिली गोरखी की मां पडने से मुझे बहुत प्रेरणा मीली वैसे साथी नीता और बाकी साथीयों ने भी प्रेरणा देने का काम हमेशा किया है।

आज मैं पड पाती हूं। उसकी मुझे खुशी है कि कोई दूसरा व्यक्ति पढ़के सुनाये उससे खुद पढ़के समझने में ज्यादा आसानी होती है। और पढ़ना-लिखना आने से बेशक आंदोलन के काम में मदद भी होती है। मैं कभी परचा-पोष्टर भी लिखती हूं जो मजदूर साथी पढ़ नहीं

पाते तो कभी-कभी उन्हें परचा या मजदूरों संबंधी कोई साहित्य है तो पढ़के सुनाती समझाती हूं। मुझे लगता है कि पढ़ना लिखना आना आंदोलन के लिये काम की बात है। आज मजदूरों में एक बात हमेशा सुने को मिलती है कि आंदोलन का नेतृत्व करने के लिये पड़ा लिखा ही व्यक्ति होना जरूरी है।

मुझे लगता है काम चल सके इतना भी यदि मजदूर पढ़ना लिखना सीखें तो वो आंदोलन का नेतृत्व अच्छे से कर सकता है। पढ़ना याने स्कूल में रडामार पढ़ाई की बात मैं नहीं कहूंगी राजनीतिक, सामाजिक रोज की घटने वाली घटना से संबंधित है।

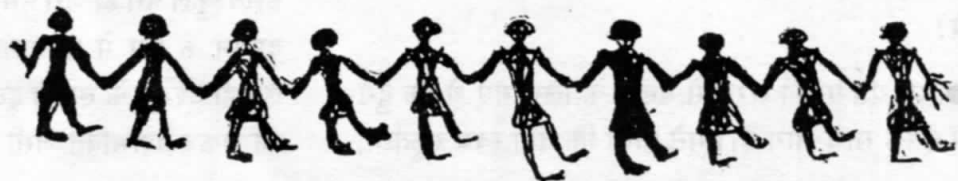
आज की स्थिति में मजदूर कहता हैं हमें कहां वक्त मिलता है। ये सब पढ़ने का बात कुछ हद तक सच भी है। लेकिन बहुसंख्यक निरक्षर मजदूर वर्ग रहे तो कुछ पड़े लिखे लोग ही हम पर हुकमत करते रहेंगे और हम हमारी पीडा को समझने में भी असमर्थ रहेंगे।

महात्मा फुले के बारे में अपने विचार इसलिए भेज रही हूं कि उन्होंने पढ़ाई के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया।

धन्यवाद,

आपकी साथी
प्यार के साथ
निर्मला

(पत्र में अभिव्यक्त भावनाओं को देखते हुए उसे बिना किसी परिवर्तन के छापा जा रहा है - संपादक)



एम.पी. परमेश्वरन से बातचीत

ज्ञान विज्ञान जत्था' के डॉ. एम.पी. परमेश्वरन से दिसम्बर, 1990 में हुई बातचीत के कुछ अंश

(डॉ. एम.पी. परमेश्वरन के नाम के साथ केरल शास्त्र साहित्य परिषद, भारत जन विज्ञान जत्था और अब भारत ज्ञान विज्ञान जत्था सहज ही जुड़ गये हैं। मूलतः एक वैज्ञानिक डॉ. परमेश्वरन ने जन विज्ञान को एक जीवन्त आंदोलन बनाने में प्रमुख भूमिका निभाई है। जन विज्ञान जत्थे के अनुभव के बाद ज्ञान विज्ञान जत्थे के माध्यम से साक्षरता प्रयासों को एक देशव्यापी अभियान का रूप देने का श्रय भी डॉ. परमेश्वरन को ही जाता है।)

'आप ज्ञान विज्ञान जत्था' के कार्यक्रम से किस तरह की उपलब्धि की अपेक्षा करते हैं? अभी तक आपका क्या अनुभव रहा है?

● साक्षरता राष्ट्र स्तरीय मुद्दा बने, राष्ट्रीय एजेन्डा का बिन्दु बने यह तो उद्देश्य था ही। ये उम्मीद रखी गई है, हालांकि कहा यही गया है कि पूरे साक्षरता अभियान के दौरान 10 लाख स्वैच्छिक कार्यकर्ता निकलेंगे और देश में करीब 30-40 हजार समूह उभरेंगे और ये पूर्ण साक्षरता कार्यक्रम उठाएंगे। आंतरिक कार्यक्रम के अनुसार 1995 तक 150 लाख स्वैच्छिक कार्यकर्ता व लगभग 20 करोड़ पढ़ने वाले होंगे। 1991 के अंत तक 10 लाख स्वैच्छिक कार्यकर्ता व 1 करोड़ पढ़ने वालों का लक्ष्य था। हम उस सीमा से अभी ही आगे बढ़ चुके हैं। अकेले दुर्ग से ही 70,000 स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं ने संकल्प पत्र भरे हैं। ये सब एक साल में पूरे दुर्ग जिले को साक्षर करेंगे। बिना किसी तनख्वाह के।

आप दुर्ग के कार्यक्रम की संभावनाओं का अध्ययन करने गए थे?

● हम यह पक्की तरह से देखने के लिए गए थे कि दुर्ग में इनके साथ लोग हैं। हमने पाया कि वहां स्वयं स्फूर्तता,

सृजनात्मकता, प्रेरणा सब हैं। वे सिर्फ किताबें, तेल, स्लेट और चाक चाहते हैं।

किताबों, स्लेटों, पेन्सिलों, प्रशिक्षण, प्रति सीखने वाले के लिए 40 रुपए, (प्रेरणा आदि के लिए) कुल मिलाकर 4 करोड़ का बजट सेंक्शन हुआ है। उसमें से अभी 2.5 करोड़ राष्ट्रीय साक्षरता मिशन से मिलेगा।

अभी तक साक्षरता कार्यक्रम व अभियान उन्हीं देशों में सफल हुए हैं जहां के समाजों में कुछ बुनियादी परिवर्तन हुए हैं-या तो राष्ट्रीय आंदोलनों या क्रांति के एकदम बाद। यदि आप इतिहास की इस समझ से सहमत हैं तो बताइये कि इस समय, इस देश में साक्षरता अभियान चलाने का क्या महत्व है?

● यूनेस्को और यूनीसेफ के लोग भी कहते हैं कि जब तक सामाजिक परिवर्तन हो साक्षरता का काम नहीं हो सकता है। आमतौर पर ऐसा ही हुआ है। या तो क्रान्ति हुई जैसे क्यूबा आदि देशों में या औद्योगीकरण से जैसे ब्रिटेन में। ऐसे में तो फिर अपने देश में कुछ नहीं किया जा सकता। हमारा प्रश्न है कि क्या साक्षरता परिवर्तन की शुरुआत कर सकती है?

हम अभी तक क्या करते रहे हैं? एक-दूसरे को, जनता से सहानुभूति रखने वालों को, मारते रहे हैं और दुश्मन मजे लेते रहा है।

'ज्ञान विज्ञान जत्था' एक प्रयोग है जिसमें लोगों को निरक्षरता एक सामान्य दुश्मन की तरह प्रस्तुत करने के लिए उत्साहित करना है। इस समझ के लिए प्रेरित करना है। बिल्कुल वैसे ही जैसे हमने ब्रिटेन के लोगों को एक स्पष्ट दुश्मन के रूप में पहचाना था। क्या हम निरक्षरता को ऐसे ही दुश्मन के रूप में ढूंढ सकते हैं। यह प्रयोग साक्षरता को लेकर देशभक्ति जैसी भावना पैदा करने के लिए है।

राम जन्मभूमि और मण्डल विरोध जैसा हिस्टीरिया पैदा करना पड़ेगा। ऐसे साक्षरता होगी या नहीं इसके कोई ठोस सबूत नहीं हैं। करके ही देखना होगा। एरनाकुलम में यह संभव हुआ है।

जहां तक प्रश्न है दुर्ग में इतने सारे स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं का तो उनको कलेक्टर ने प्रेरित किया है। उनमें यह समझ पैदा की है कि कैसे निरक्षरता एक सामान्य दुश्मन है।

हमारा अनुभव है कि लोग हमेशा पूछते हैं कि हम क्यों पढ़ें, इसका क्या उत्तर है?

● लोग तो पहले यह कहते हैं कि तुम बूढ़ों को क्यों पढ़ा रहे हो। बच्चों को पढ़ाओ। पहली बात तो है कि कार्यकर्ता खुद भावनात्मक रूप से सहमत होना चाहिए। गांव वालों को समझाने के लिए उत्तरो की एक पूरी श्रृंखला होनी चाहिए, खासतौर से यह कि साक्षरता से कैसे शक्ति मिलती है। तुरन्त जो शक्ति का अहसास होता है फार्म आदि पढ़कर। हमें लोगों को बिना पैसे के जोड़ना है। एरनाकुलम में लोगों ने यह दिखा दिया है।

उन्हें जोश किससे मिला?

● कलेक्टर के आकर्षण से। यह संभावना है कि दुर्ग जिला भी पूरी तरह से साक्षर हो सकता है इससे वे जोश में हैं कि उनका जिला पूर्ण रूप से साक्षर हो जाएगा। यही उनकी प्रेरणा है। (दुर्ग के कलेक्टर का स्थान्तरण फरवरी 1991 में जबलपुर कर दिया गया।)

साक्षरता का महत्व क्या है?

● निरक्षर जो बहुत सारी बातें करता है। उसके लिए उसे औरों पर निर्भर रहना पड़ता है, दूसरों की व्याख्या पर निर्भर होना पड़ता है। हालांकि निरक्षर हैं फिर भी अधिकतर गांव वाले बदलना चाहते हैं। यह कैसे करें? गांव वालों को सशक्त कैसे करें?

इसके लिए उन्हें अध्ययन करना पड़ेगा ताकि वे धोखा देने वालों पर निर्भर न हों। लिखना पढ़ना खुशी देने वाला भी है। इसे तर्कों से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

आखिर 'लिखना' क्या है?

● जंगलीपन से सभ्यता की ओर (बारबेरिज़्म टू सिविलाइज़ेशन) यह परिवर्तन साक्षरता की खोज के साथ-साथ हुआ। बंदर से मनुष्य - जब दिमाग में जमा जानकारी जेनेटिक कोड में एकत्र जानकारी से ज्यादा हो गई तो लिखने-पढ़ने की जरूरत हुई।

सभ्यता से एक बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि दिमाग के बाहर की सूचनाएं लिखित रूप में या कम्प्यूटर में एकत्र होकर दिमाग को उपलब्ध हुईं। जब कार्यकर्ता यह समझ जाएंगे कि अभी लगभग 50% लोग जंगली युग या साक्षरता के पहले के युग में जी रहे हैं तो वे प्रेरित हो जाएंगे।

साक्षरता कैसे सांप्रदायिकता, गरीबी, राष्ट्रीय अस्थिरता आदि समस्याओं को हल करेगी? क्या आप सोचते हैं कि केवल निरक्षर लोग ही सांप्रदायिक हैं?

● निरक्षर लोगों का निहित स्वार्थ है। वे भी मानवीय जीवन जीना चाहते हैं। वे भी खाना, कपड़ा, घर, शिक्षा, स्वास्थ्य, आराम चाहते हैं। मैं जानकर निहित स्वार्थ शब्द का उपयोग कर रहा हूं। उनकी लड़ाई में साक्षरता से मदद मिलेगी। यह उन्हें संघर्ष के लिए हिम्मत, शक्ति देगी। उनके अपने विकास के लिए यह एक जरूरी अस्त्र है।

आपके परिपत्रों से, आपके कथनों से ऐसी ध्वनि उभरती है कि जैसे निरक्षर लोग अपनी गरीबी और कम शिक्षा के लिए स्वयं जिम्मेवार हैं?

● एक तरह से हैं क्योंकि वे अपनी परिस्थिति बदलने के लिए जूझ नहीं रहे हैं।

नोट : भारत की कुल आबादी में प्रति हजार पुरुषों में 941 स्त्रियों का अनुपात है जबकि आदिवासी आबादी में प्रति हजार पुरुष 987 स्त्रियां हैं।

(गुजरात के आदिवासी - विमल शाह, 1968, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)

क्या आपको लगता है कि साक्षरता कार्यकर्ता का कुछ राजनैतिक शिक्षण भी होना जरूरी है?

● वैसे गरीब लोगों के प्रतिक्रियावादी विचारधारा से प्रभावित होने की संभावना कम है। साक्षरता अपने आप उनकी विचारधारा बदल देगी। यह एरनाकुलम में हुआ है। लोगों के परिप्रेक्ष्य बदले हैं। वास्तविकता के संपर्क में आने के कारण कार्यकर्ताओं के दृष्टिकोण अपने आप बदले हैं। जो लोग पढ़ना सीख रहे हैं उनके पास पढ़ने के लिए चीजें हैं। वे खुद तय कर सकते हैं कि उन्हें क्या पढ़ना है, क्या मानना है। एक बार लोग पढ़ना सीख जाएं तो गुरु-गुरु नहीं रहता और शिष्य-शिष्य नहीं रहता। यही सामाजिक परिवर्तन की शुरूआत के लिए जरूरी है।

अभी तक साक्षरता को किसी ने एक प्रमुख मंच के रूप में नहीं सोचा है-एक माहौल पैदा करने वाले मंच के रूप में। मेरा तो यही मानना है कि सामाजिक परिवर्तन से पहले साक्षरता हो और साक्षरता भी सामाजिक परिवर्तन की शुरूआत करने में मदद करे, औजार बनें।

साक्षरता सामाजिक परिवर्तन से पहले हो जाए यह क्या इतिहास में कहीं हुआ है? आप यह ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कह रहे हैं या भावुकता से?

● जिस प्रकार बाहरी दुश्मन को देखने पर हमें आपसी लड़ाइयों को छोड़ने की प्रेरणा मिलती है इसी तरह यदि हम साक्षरता को एक दुश्मन के रूप में प्रस्तुत करें तो...।

ऐसे साक्षरता होगी या नहीं इसका कोई ठोस सबूत नहीं है। यह तो करके देखने से ही पता चलेगा। एरनाकुलम में यह संभव हुआ है।

पर इससे, अपने आप, संघर्ष के लिए संगठनात्मक गतिविधि कैसे होगी?

● साक्षरता एक सामूहिक प्रक्रिया है। यह 'हर एक-एक को पढ़ाए' इस सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। इसमें ऐसा माहौल पैदा करने की बात है जिसमें बड़े समूह के साथ जुड़ने का अहसास होगा - गांव के स्तर पर, ब्लाक स्तर पर, जिले के स्तर पर...। सामूहिकता इस क्रिया का हिस्सा है। सामूहिकता उनकी स्थिति बदलने के लिए। साक्षरता

चाहे कोई भी करे उसके दृष्टिकोण और राजनैतिक विचारधारा से फर्क नहीं पड़ता। मुझे फर्क नहीं पड़ता कि ये 'राम' लिखना भी सीखें तो। जब वे पढ़ना-लिखना सीख जाएंगे तो खुद ढूंढ-ढूंढ कर अपने मतलब की चीजें पढ़ लेंगे। निर्भर नहीं रहेंगे। इसलिए साक्षरता शक्तिवान बनाती है। मुझे फर्क नहीं पड़ता यदि भाजपा भी साक्षरता अभियान करती है। विषय वस्तु से फर्क नहीं पड़ता। लोग पढ़ना-लिखना सीखें यह ही सबसे महत्वपूर्ण है। भूमिहीन मजदूर की परिस्थिति सुधरती है।

यह इस पर निर्भर करेगा कि जनसंगठन और क्या योगदान करेंगे। ये सारे योगदान भी साक्षरता की वजह से बेहतर ढंग से इस्तेमाल हो पायेंगे। कुछ चीजें हैं जो साक्षरता कार्यक्रम के साथ-साथ आराम से चल सकती हैं। पर कुछ प्रश्न जैसे जमीन के मुद्दे, ताकतवर स्थानीय लोगों से टकराव आदि साक्षरता कार्यक्रम के बाद होगा। यह नियोजित टकराव होगा जब उसकी तैयारी हो चुकी होगी। अभी टकराव से क्या हो रहा है? नुकसान ही हो रहा है। साक्षरता व सामाजिक परिवर्तन अलग-अलग हैं। हम यह नहीं कह सकते कि जब बड़ी संख्या में लोग पढ़ रहे हैं, पढ़ा रहे हैं, सीख रहे हैं तो यह मूल्यों के बिना चलने वाला काम है। इसलिए यह कहना मुश्किल है कि इतनी व्यापक गतिविधि के साथ-साथ किस प्रकार का सामाजिक परिवर्तन हो सकता है। सामाजिक परिवर्तन बिलकुल अलग-अलग तो है नहीं।

अभी तक जो सरकारी साक्षरता कार्यक्रम हुए वे सफल क्यों नहीं हुए?

● धीरे-धीरे लम्बे समय के कार्यक्रम थे। माहौल बनाकर अभियान स्तर पर नहीं हुए। इसलिए फेल हुए।

हमारे क्षेत्र में तो जन विज्ञान व ज्ञान विज्ञान जत्या कार्यक्रम तमाशा ही थे। क्यों?

● एक क्षेत्र विशेष में अलग-थलग थे इसलिए। माहौल नहीं बना इसलिए। जब चारों तरफ माहौल बनेगा, गांव-गांव से जत्ये निकलेंगे तो जोश आएगा। लोग साक्षरता की मांग करेंगे।

तू कहता कागद की लेखि

मैं कहता आंखन देखि

आजकल साक्षरता शब्द बहुत पढ़ने-सुनने में आ रहा है। जिस अखबार-पत्रिका के पन्ने पलटो साक्षरता की खबरें जरूर मिल जाती हैं। जगह-जगह पूरे देश में ज्ञान-विज्ञान समितियां बन रही हैं, जत्थे निकल रहे हैं, नुक्कड़ नाटक, वीडियो फिल्में दिखाई जा रही हैं, पोस्टर प्रदर्शनियां लग रही हैं, सभा-गोष्ठियां हो रही हैं, बुद्धिजीवी छात्रों को एक साल स्कूल-कालेज छोड़कर साक्षरता के कार्य में लगने का आह्वान कर रहे हैं, शिक्षा विभाग और शासन भी साक्षरता के प्रति सजगता दिखा रहा है। एन.सी.सी. और एन.एस.एस. के शिक्षकों को एक छात्र से पांच व्यक्तियों को साक्षर करने के आदेश मिले हैं। आखिर यह सब क्यों?



क्या साक्षरता ही हमारी सब समस्याओं की रामबाण दवा है? जिन देशों-क्षेत्रों में साक्षरता है क्या वहां लोग भूख से नहीं मरते? चालीस साल से चल रहे साक्षरता आंदोलन का हथ्र क्या हुआ? कौन आया



केन्द्रों में पढ़ने? किस मास्टर ने ईमानदारी और जिम्मेदारी से कक्षाएं चलाई? साक्षरता कक्षाओं के पाठ्यक्रमों में क्या पढ़ाया जाता है? इस पढ़ाने का गांव-देहात के लोगों के जीवन से क्या संबंध है? क्या वाकई में साक्षरता जरूरी है? अगर है भी तो उसके तौर-तरीके क्या होंगे? साक्षरता का मापदंड क्या होगा? मूल्यांकन किस आधार पर होगा? इन कुछेक सवालों पर गंभीरता पूर्वक विचार करने की जरूरत है।

पिछले महीने सितंबर में इंदौर में ज्ञान-विज्ञान समिति के कार्यक्रमों को देखने का अवसर मिला। पहले तो यह बता दूं कि साक्षरता के लिए जो समिति गठित की है उसमें साक्षरता कक्षाएं चलाने वाला कोई व्यक्ति शामिल



नहीं है। समिति में बड़े-बड़े बुद्धिजीवी शिक्षाविद् सेवानिवृत्त शिक्षक हैं। एक-दो व्यक्ति साक्षरता के लिए प्रतिनियुक्त पर आये हैं। सरकार ने साक्षरता करने के लिए इन्हें नियुक्त किया है। समिति के सदस्यों का मुख्य काम सभागोष्ठी, नुक्कड़ नाटक, सेमीनार आयोजित करना है। समिति के लोग कभी-कभार गांवों में भी जाते हैं। बैठक-गोष्ठी करते हैं। स्वास्थ्य, ब्रह्मांड, नारी स्वतंत्रता की बात करते हैं और शाम को जीप में बैठकर वापस इंदौर आ जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान समिति में कोई युवा और गांव-देहात का



व्यक्ति भी नहीं है। पन्द्रह-बीस दिन पहले केरल से केरल शास्त्र साहित्य परिषद का कला जत्था आया। समिति बहुत सक्रिय हो गई। सघन और व्यस्त कार्यक्रम होने लगा। जत्थों के कार्यक्रमों का आयोजन जगह-जगह हुआ। जत्था वालों ने कुछ चुनिंदा गीत, गीत-नाटिकाएं और नुक्कड़ नाटक प्रस्तुत किये। एक कार्यक्रम के बाद जीप में बैठे और दूसरी जगह कार्यक्रम किया। दर्शकों से कोई बातचीत नहीं, कोई संवाद नहीं करते। करते चलो कार्यक्रम पर कार्यक्रम।

बाबा मायाराम

सी.एम.एस.एस. दल्ली राजहरा, जिला दुर्ग (म.प्र.)

भारत ज्ञान विज्ञान जत्था

संदीप नाईक

एकलव्य के देवास केन्द्र ने ज्ञान-विज्ञान जत्थे का काम पूरे एक वर्ष तक किया। यह लेख उनके कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण व उस अनुभव के विश्लेषण के बारे में है।

वर्ष भर की गतिविधियों का ब्यौरा

माह	गतिविधि
नवम्बर, दिसम्बर 1989	देवास जिले के हर ब्लाक में 2-3 व्यक्तियों से सम्पर्क किया जो शिक्षा के क्षेत्रों से जुड़े हुए थे। इन व्यक्तियों के माध्यम से प्रत्येक ब्लाक में 20-30 जगहों पर सम्पर्क किया। इस तरह के सम्पर्कों में शिक्षकों, छात्रों, युवा मंडल, भजन मंडलियों से संबंध बनाया।
जनवरी 1990	जिला स्तरीय बैठक आयोजित की जिसमें पूरे जिले से विभिन्न लोगों ने भाग लिया। इस बैठक में भारत ज्ञान-विज्ञान जत्था की पूरी योजना, प्रारूप आदि पर चर्चा हुई एवं जानकारी दी गई।
फरवरी, मार्च, अप्रैल 1990	इन तीन माहों में पूरे जिले के गांवों में सघन सम्पर्क किया। शिक्षा, साक्षरता, पर्यावरण, बेरोजगारी आदि मुद्दों पर रुचि रखने वालों से एवं उत्साही लोगों से सम्पर्क किया एवं भारत ज्ञान विज्ञान जत्थे के बारे में बताया।
मई, जून 1990	पूरे जिले से लगभग 100 युवा साथियों का एक शिविर लगाया। उन्हें दस दिन तक साम्प्रदायिक एकता और पर्यावरण पर आधारित नाटक गीतों का प्रशिक्षण दिया गया। इसके बाद इन्हीं 100 साथियों ने ब्लाक के अनुसार जत्थे निकाले। अंत में जिला मुख्यालय आकर एक रैली निकाली एवं शहर के विभिन्न चौराहों पर प्रदर्शन किये।
जुलाई, अगस्त 1990	जिला, ब्लाक, क्षेत्रीय एवं स्थानीय समितियों का गठन किया। इसके अलावा जिला उपसमितियां बनाईं। पूरी जिला समिति के साथ काम करने को एक 'भारत की ज्ञान-विज्ञान परिषद' भी बनाई जिसमें समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि शामिल थे। क्षेत्रीय साफ्टवेयर वर्कशाप की जिम्मेदारी देवास समूह की थी। यह कार्यशाला 22.7.90 को संपन्न हुई जिसमें दस जिलों से लगभग 80 लोगों ने हिस्सा लिया। इसके बाद देवास जिले के छहों ब्लाक में इसी तरह की कार्यशालाएं आयोजित की गईं। राज्य स्तरीय कला जत्था कार्यशाला में दो लोगों ने हिस्सा लिया जिसमें से एक साथी ने स्रोत व्यक्ति की भूमिका निभाई।
सितम्बर	केरल से आए अक्षर कला जत्थे का कार्यक्रम था, पर कुछ राजनीतिक समस्याओं की वजह

माह	गतिविधि
सितम्बर 1990	से जत्थे का कोई भी कार्यक्रम नहीं हो पाया। इससे पहले के भारत ज्ञान-विज्ञान जत्था के कार्यक्रमों के दौरान सांप्रदायिकता के खिलाफ मत प्रकट करती हुई एक पत्रिका के वितरण पर कुछ राजनैतिक संगठनों ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। केरल से आए 10-12 लोगों के अक्षर कला जत्थे का यह कहकर विरोध किया गया कि वे यहां पर वामपंथी विचारधारा फैलाने का प्रयास कर रहे हैं। वेशभूषा एवं बोलचाल में भिन्नता एवं सांस्कृतिक विविधता का भी मजाक उड़ाया गया। इस दौर से स्पष्ट हुआ कि साक्षरता का काम आसान नहीं है और राजनैतिक ताकतों के द्वंद्वों एवं मूल्यों का प्रभाव उसमें झलकेगा ही। जिले के उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में 'विज्ञान-क्लबों' का गठन किया गया एवं कार्यक्रम किए।
अक्टूबर 1990	देवास में हमें लगा कि कोई भी व्यक्ति लगातार 50-60 दिनों तक निस्वार्थ रूप से कार्य नहीं कर सकता। इसलिए देवास में एक मुख्य कला जत्था तैयार करते हुए विभिन्न ब्लॉकों में 10 कला जत्थे तैयार हुए। इन जत्थों में औसतन 10-12 कलाकार थे, अर्थात् पूरे जिले में 120-130 कलाकारों को प्रशिक्षण दिया गया।
नवम्बर 1990	उपरोक्त तैयार जत्थों ने औसतन 12-12 प्रदर्शन दिये, इस तरह लगभग 120-130 केन्द्रों पर कार्यक्रम हुए। राज्य स्तरीय समापन समारोह हेतु देवास से 40 सदस्यीय दल ने भोपाल में हिस्सा लिया और प्रभावी प्रदर्शन किया।
दिसम्बर 1990	विभिन्न जगहों से, गांवों से, स्कूल कालेजों से इस तरह की कला जत्था कार्यशालाएं आयोजित करने के प्रस्ताव आ रहे हैं। हम इस प्रक्रिया को जारी रख रहे हैं साथ ही जो जत्थे तैयार हो रहे हैं वो भी निकल रहे हैं।

विचारणीय बिन्दु

- हमने 'साक्षरता कार्यकर्ताओं' के पंजीकरण का कार्य नहीं किया, क्योंकि हमें लगा कि बहुत औपचारिक रूप से इनका पंजीयन करके हम 'साक्षरता' जैसे व्यापक और गहरे विषय को तुरन्त ठोस एवं सार्थक दिशा नहीं दे पायेंगे।
- हमने इस पूरे जत्थे को एक घटना नहीं समझा, परन्तु एक प्रक्रिया माना है और इस प्रक्रिया में स्कूली शिक्षा, विद्यालयों में विभिन्न शिक्षणोत्तर गतिविधियां, विभिन्न ग्रामीण स्तरों पर नाटक गीतों की टीमों, विभिन्न सामयिक विषयों पर खुली चर्चाएं आदि इस प्रक्रिया के हिस्से हो सकते हैं और हमने इन पर कार्यक्रम भी करना आरम्भ कर दिया है।
- पानी गांव (कन्नौद तहसील) के आसपास के 20 गांवों में सेवा केन्द्र द्वारा, संदलपुर गांव (खातेगांव तहसील) में वहां की जनजागरण समिति ने, देहरिया साहू (बागली तहसील) के कुछ शिक्षकों व विद्यार्थियों ने ओर कुलाला (सोनकच्छ तहसील) में संपूर्ण साक्षरता के प्रयास शुरू किए गए हैं। चूंकि 'एकलव्य' संस्था पिछले 6-7 वर्षों से देवास क्षेत्र में कार्य कर रही है इसलिए हमने भारत ज्ञान-विज्ञान जत्थे का कार्यक्रम लेते समय ही तय कर लिया था कि इसे भी अपने काम का एक हिस्सा मानेंगे। इस दौरान शुरू हुई प्रक्रियाओं को आगे बढ़ाने का कार्य भी करते रहेंगे।

समस्याएं, सीमाएं और संभावनाएं

पूरा एक वर्ष हमने कार्य किया। इस दौरान बहुत गम्भीरता और बारीकी से साक्षरता एवं इससे जुड़े राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक प्रशासनिक आदि पहलुओं पर सोचा है, विचारा है, विश्लेषण किया है। इस सारी प्रक्रिया में, जो फील्डवैचारिक स्तर पर जारी थी, से निम्न बिन्दु उभरकर आये, जिससे हमारी 'साक्षरता' जैसे गंभीर विषय पर समझ बनी है।

- सरकारी तंत्र में सामाजिक प्रतिबद्धता की कमी है। आदेशों के बावजूद सिर्फ औपचारिकतावश काम किया जाता है। अधिकांश सरकारी कर्मचारी डरे हुए हैं, तथा कोई जोखिम उठाना नहीं चाहते। लीक से हटकर कार्य करने वालों को अलग-अलग करने की कोशिश की जाती है।
- शिक्षित बेरोजगारों को, विशेषकर युवाओं को, लगा था कि इससे कुछ रोजगार मिलेगा, अतः वे जुड़ने लगे परन्तु ऐसा कुछ नहीं था। इसलिए धीरे-धीरे हटने लगे। मात्र इन युवाओं को आधार मानकर कार्य करना संभव नहीं है।
- अधिकांश राजनैतिक एवं धार्मिक संगठन और प्रशासन यथास्थितिवादी हैं, परन्तु 'साक्षरता' एवं 'जनचेतना' का काम बदलाव से संबंधित है, अतः विचारों एवं कार्य पद्धतियों में टकराहट तुरन्त आरम्भ हो जाती है। जहां तक इस जत्थे का उद्देश्य था कि 'सबको साथ लेकर चलने का', यह साक्षरता के व्यापक परिप्रेक्ष्य में असंभव है, क्योंकि 'परिवर्तन' ही 'साक्षरता' का ध्येय है, और यथास्थितिवाद में काम करना मुश्किल है।
- प्रौढ़ शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, जनशिक्षण निलयमों, जैसी योजनाओं पर लोगों को विश्वास नहीं है। यहां तक कि इन तंत्रों से जुड़े कर्मचारी, अधिकारी भी इस अर्धसत्य को स्वीकार करते हैं परन्तु 'सरकारी लक्ष्यों' को पूर्ण करने की उनकी मजबूरी भी है, एवं विवशता भी।
- सम्पूर्ण कार्यक्रम में महिलाओं की भागीदारी का अभाव रहा। कुछ जगहों पर नाटक के दौरान महिलाओं ने रुचि दिखाई परन्तु समस्याएं ऐसी हैं कि उनका तुरन्त निराकरण कैसे होगा, इस पर गहराई से सोचना होगा।
- पुराने लोगों को बदलना मुश्किल है क्योंकि उनकी एक समझ बन चुकी है, और नये लोगों को माहौल नहीं मिलता क्योंकि घूम फिरकर इन्हें उसी ढांचे में रहना है और काम करना है।

केरल में साक्षरता के परिणाम - इतिहास के झरोखे से

'सारे भारत की तुलना में प्राचीन समय में भी केरल में असामान्य रूप से ज़्यादा पढ़े-लिखे लोग थे। इसके बहुत सारे कारण हो सकते हैं। केरल का अधिक कृषि उत्पादन जो वहां अधिक वर्षा के कारण है जिसने पूर्ण जनसंख्या के करीब एक चौथाई हिस्से को पढ़े-लिखे विशेषज्ञ बन जाने का समय और साधन दिये। समुद्री व्यापार में बढ़ोत्तरी की वजह से ज़मीन की खरीद-फरोख्त, किराया नकद में देना, वस्तुओं को गिरवी रखना...आदि का चलन बढ़ा। सिपाहियों और शहरी दस्तकारों को नकद तनखाह दी जाने लगी। इन सबसे हिसाब-किताब और कानूनी कागज़पत्र संबंधी मामलों में साधारण-सरल साक्षरता के प्रयोग को बढ़ावा मिला। नायबों व अन्य मातृकुलीन जातियों ने अपनी महिलाओं को भारत की पितृकुलीन परम्परा की तुलना में कई मायनों में ज़्यादा ऊंचा ओहदा दिया और उनमें से अधिकतर ने लिखना-पढ़ना सीखा। यूरोप से आकर बसे हुए लोगों ने उन नीची जाति के लोगों को शिक्षित किया जो अन्यथा निरक्षर ही रहते। हालांकि आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं फिर भी जो विवरण मिलता है उससे अन्दाज़ लगता है कि अठारहवीं सदी के शुरू में ही केरल में आधे से ज़्यादा पुरुष व एक-चौथाई महिलाएं मलयालम में पारंगत रही होंगी।'

(कैथलीन गफ के लेख 'केरल में साक्षरता' से साभार)

क-ा-म-ग-ा-र

नीता सत्तर के दशक में छिन्दवाड़ा के कोयला खदानों के संघर्षों में शामिल रही हैं। उनसे यह बातचीत साधना सक्सेना और नीला हार्डीकर ने की।

चूंकि साक्षरता के अनगिनत असफल अभियानों के बीच क्यूबा और निकारागुआ के प्रयोग सफलता की बुलंदियां छूते रहे, चूंकि यूनेस्को ने भी अब तय किया है कि साक्षरता और प्रौढ़ शिक्षा एक क्रांतिकारी जन आंदोलन का ही हिस्सा हो सकते हैं और चूंकि भारत सरकार भी अब कहती है कि अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए साक्षरता जरूरी है। अतः नीता से मुलाकात होने पर शिक्षा और साक्षरता पर खासतौर से बात हुई। कई टुकड़ों में हुई बातचीत के अंश प्रस्तुत हैं-

साधना : एक क्रांतिकारी आंदोलन में शिक्षा की क्या भूमिका होती है?

नीता : (सोचती रही पर कहा कुछ नहीं)

साधना : इस मुद्दे की प्राथमिकता क्या है?

नीता : हमारा उद्देश्य सबका उद्देश्य है इसलिए क्रांतिकारियों का लक्ष्य हर उत्पीड़ित का लक्ष्य होता है। इसीलिए शिक्षा की संभावना बनती है और जरूरत पड़ती है। क्रांतिकारी आंदोलन एक स्वप्न उभारता है, आज की हालत बदलने की उम्मीद जगाता है, एक भविष्य प्रस्तुत करता है। तुम समझती ही हो कि भविष्य के सपने या उम्मीद के बिना पढ़ने का कोई मतलब नहीं। वे जो कहते हैं 'पढ़ेंगे तो क्या नौकरी मिलेगी' वे भी भविष्य की खातिर पढ़ना चाहते हैं भले ही वह कितना ही संकीर्ण, व्यक्तिगत स्वार्थ हो।

साधना : जन संगठनों के नेताओं से जब भी पढ़ाने लिखाने की बात की, उन्होंने या तो रुचि नहीं दिखाई या यह आरोप जैसा लगाया कि शिक्षा के काम से संगठन का काम कमजोर पड़ता है। आपको इस पर क्या कहना है?

नीता : हमेशा एक और सत्ता का केन्द्र बनने का खतरा होता है, शायद वह हो। आप क्या पढ़ाएंगे इस पर भी मतभेद हो सकता है।

साधना : आंदोलन में शामिल गरीब लोगों के लिए पढ़ना लिखना कितना महत्वपूर्ण है?

नीता : महत्वपूर्ण है। पहली बात यह कि निरक्षरों को हर संभव मौके पर धोखा दिया जाता है। दूसरे उनमें हीनता विकसित की जाती है। पढ़ने लिखने से आत्मविश्वास बढ़ता है। हीनता खत्म होती है।

साधना : एकाध उदाहरण?

नीता : ठेकेदार मस्टर पर दस्तखत नहीं करने देता। 'ठेकेदारी मजदूर होकर दस्तखत करोगे? अंगूठा लगाओ' यह और ऐसी बातें सन् 74 की हैं। हाल की बताऊं तो मस्टर पर हस्ताक्षर करना चाहने वालों पर 'जल्दी करो' का शोर मचाकर अंगूठे के लिए दबाव डाला जाता है। लिखना जानने वाले श्रेष्ठ और निरक्षर निकृष्ट यह मान्यता ताकत से ठूंसी जाती है।

तीसरी बात, अपढ़=गंवार=मूर्ख यह समीकरण बनाकर उनकी पढ़े-लिखों पर निर्भरता बढ़ाई जाती है। नौकरशाह कागज पर पेन ठोंक-ठोंककर 'सरकार ने भेजा है' कहते हुए नियमों का दुरुपयोग करते हैं। कानून से उल्टे काम करते वक्त भी गरीब आदमी के सामने कागज फड़फड़ाकर कहा जाता है 'लिखा है, सरकार ने लिखा है।' लिखा होने का 'समीकरण' तय होने से बन चुका है। और इस तरह

‘लिखने’ का इस्तेमाल असहायता पैदा करने के लिए किया जाता है। हालांकि अब मजदूरों में पढ़े-लिखे काफी लोग आते हैं। परचे पढ़ने या लिखने में वे किसी पर निर्भर नहीं होते। खुद की अर्जियां लिखने के लिए ‘वकील’ की सेवाओं की असल में अनिवार्यता नहीं रही है हालांकि दिमाग में वकील साहब का हौआ बना हुआ है।

साधना : चुनाव लड़ने के लिए?

नीता : समाज या यूनियन के चुनाव लड़ने के लिए पढ़ा-लिखा होना उम्मीदवार के लिए वांछनीय गुण होता है। इस हालत का फायदा थोड़ा सा पढ़ा-लिखा आदमी उठाता है, भले ही दूसरे अनिवार्य गुणों में वह उन्नीस हो। ऐसी स्थिति में मजदूर पूरी तरह से नेता की जानकारी, लिखित चीजों पर, उनकी व्याख्या पर निर्भर हो जाता है।

साधना : आन्दोलन के कार्यकर्ता या गांव वाले उनकी जानकारी का दायरा कैसे बढ़ाते हैं? मौखिक चर्चाओं से या पढ़कर?

नीता : हड़तालों के दौर में लोग सीखने समझने के लिए बैठना चाहते हैं, बाद में नहीं। संघर्ष के दिनों में अखबार पढ़ना, सुनना चाहते हैं। दूसरे संघर्षों के अनुभव ध्यान से सुनते या पढ़ते हैं। चर्चाओं में भी भाग लेते हैं।

साधना : राजनैतिक दलों, समूहों में जो कक्षाएं होती हैं। उसके बारे में कुछ बताओ?

नीता : पार्टियों, यूनियनों की कक्षाएं यूं तो सभी मेम्बरों के लिए खुली होती हैं। मगर हाजरी आमतौर पर कम होती है। संघर्ष के समय चार को बुलाओ तो सब झूम आते हैं। बाद में बुलाओ तो चार न आए। क्रांतिकारी आंदोलन इंसान को दुनिया से जोड़ता है। पढ़ाई भी इंसान को दुनिया से जोड़ती है।

साधना : यूनियन में सदस्यों या साथियों का शैक्षणिक स्तर बढ़ाने के बारे में कुछ सोचा जाता है?

नीता : नेता कुछ कार्यकर्ताओं को पढ़ाना जरूरी समझते हैं। सबको पढ़ाने के काम की प्राथमिकता नहीं होती, उसके लिये प्रतिबद्धता नहीं होती। इसलिए सिर्फ केडर का



शिक्षण होता है जनता का नहीं। पढ़े-लिखे कार्यकर्ता अनपढ़ साथियों को पढ़ाने में इतने उत्साहित नहीं होते। बड़ों (वयस्कों) को पढ़ाना कभी हास्यास्पद लगता है, कभी समय की बर्बादी। हां, पढ़ाई के सकारात्मक रोल को सभी मानते हैं और बच्चों को सब पढ़ाना चाहते हैं। नए मजदूर जब यू.पी., बिहार से आते हैं तब वे अनपढ़ होते हैं, पर अगली पीढ़ी पढ़ी-लिखी हो जाती है।

साधना : बच्चों की किताबों या पाठ्यक्रम पर भी कभी सोचा जाता है?

नीता : विषय वस्तु ऊपर से निश्चित होती है, ऐसी मान्यता है। कभी इतिहास पर चर्चा हुई तो पाठ्य पुस्तकों पर पहुंचती है। परन्तु पाठय सामग्री हम बदल सकते हैं, ऐसा मजदूरों को लगता नहीं।

नीता : मेरा अनुभव है कि पढ़ने वालों को निरंतर बैठकर ध्यान देना जैसी आदतें विकसित करनी पड़ती हैं। क्या उसके अभाव में पढ़ना संभव है? तुम बताओ नीता, बड़े लोग, मानो 30-35 साल के, विषय या पाठय-सामग्री रुचिकर होने से पढ़ने लग जाते हैं क्या?

नीता : जिसे आदत नहीं, उसके लिए पढ़ना बड़ा मुश्किल है। जो लोग कभी स्कूल में नहीं बैठे, उनके लिए आधा घंटा पढ़ने के लिए बैठना एक यंत्रणा होती है। जो राजनीतिक हैं, पढ़ने की कीमत भी समझते हैं वे भी, अगर

4 बजे प्रौढ़ शाला लगनी हो तो एक बजे से वहां आकर जमेंगे। मगर पढ़ाई चालू होते ही उठने लगेंगे। मेरी तो औरतों को इकट्ठा करने की कोशिशें भी असफल रहीं।
साधना : मौखिक परंपराओं का आंदोलनों में क्या रोल है?

नीता : हमारी मौखिक परंपराएं बहुत समृद्ध हैं। आंदोलनों में ये ज्यादा विकसित होती हैं। मौखिक परंपराओं में पले-बढ़े लोगों की याददाश्त बहुत तेज होती है। यह स्वाभाविक भी है। परन्तु याददाश्त पर आधारित बातें खोजा जाती हैं। इसलिए पढ़ना लिखना जरूरी है।

नीला : मगर मौखिक परंपराओं में एक खूबसूरती भी होती है, वह जीवन्तता. . .

नीता : नहीं, मेरा मतलब इतना ही है कि साक्षर बनने के बाद समाज कुछ खोता भी है। एक बात और है, निरक्षर समाजों को साक्षर बनाने के लिए निकले लोग अपने साथ अपने कबीले की उपलब्धियों का, अपनी भाषा की विशिष्ट संरचना का घमण्ड लिए आते हैं। उदाहरण के लिए 'अंग्रेजी' वैज्ञानिक भाषा होने का भ्रम... या फिर प्रौढ़ शिक्षा के प्राइमर्स देखो, खड़ी बोली में लिखे गये हैं चाहे मालवा में इस्तेमाल हो रहे हों, चाहे छत्तीसगढ़ में। यानी लिखने की हिन्दी सिर्फ खड़ी बोली ही हो सकती है?

साधना : अब ऐसा नहीं है। कुछ प्राइमर्स बोलियों में लिखे गये हैं। उसमें लिखना-सिखाना भी बारहखड़ी से नहीं होता है। एक शब्द के हिज्जे करके और नये शब्द गढ़ने की पद्धति बताई जाती है। पर यह भी पाओलो फ्रेरे पद्धति नहीं है। पाओलो फ्रेरे की पद्धति में सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है उत्पीड़ित लोगों के साथ संवाद और संवाद के आधार

पर शब्द, शब्दों का चुनाव। संवाद सबसे मुख्य तत्व है जो बुनियादी रूप से शिक्षक के दृष्टिकोण, सामाजिक उत्पीड़न की समझ, आदि पर निर्भर करता है। पर जब तक सोच नहीं बदलेगा प्राइमर्स क्या कर लेगी?

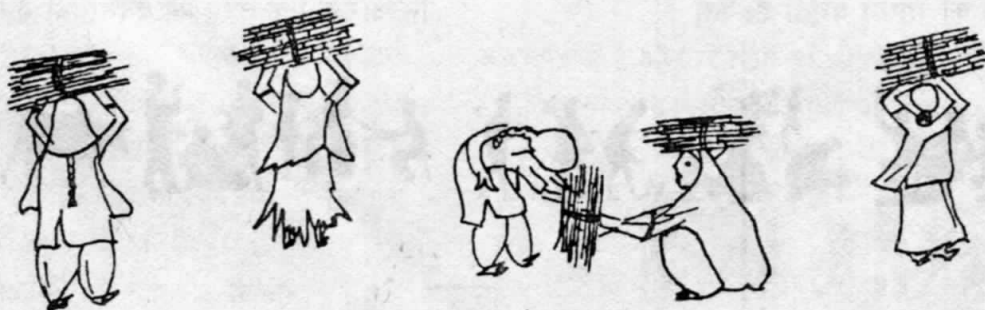
नीता : मैंने कुल मिलाकर 5 लोगों को पढ़ना सिखाया। यह कहना मुश्किल है कि ये लोग कितने दिनों में लिखना-पढ़ना सीखे, क्योंकि काम तीव्र संघर्ष के दौरान किया था। बहुत बार जेल चले जाते थे, औरतों को गांव जाना पड़ता था। किसी तरह की कोई निरन्तरता नहीं थी। फिर भी लोग पढ़ना सीखे, कह सकते हैं, जल्दी हीनता की भावना दूर करने के लिए पढ़ना आना जरूरी है। मैं कोई विशेष पद्धति बता रही हूँ ऐसा नहीं है। जो किया वह ही बता रही हूँ। पहले उनके लिए अखबार यानी कागज पर काला धब्बा होता है। मैंने उन्हें क, म, ग और र चार अक्षर सिखाए। फिर अखबार दिया। उन्होंने उसमें चारों अक्षर ढूंढकर पहचानना शुरू किया। वह कहते हैं न काला अक्षर भैंस बराबर - छपे शब्द पहले काले धब्बे थे और जब उनमें से अक्षर ढूंढकर पहचानने लगे तो काला धब्बा शब्द बन गया।

साधना : ये ही चार अक्षर क्यों चुने? खास वजह है?

नीता : मेरे दिमाग में कामगार शब्द था।

साधना : अच्छा। फिर?

नीता : फिर पगार शब्द शुरू हुआ। पगार का प और इस प्रकार नए-नए अक्षर जोड़े। मात्राएं सीखने में काफी वक्त लगा। पढ़ना तो सीख गए मगर लिखना सीखने में काफी मुश्किल होती है। अपना नाम लिखना सबसे पहले सीखना चाहते हैं।



निरक्षरता बनाये रखने की राजनीति

कृष्ण कुमार

देखते ही देखते शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य ढह गये। शिक्षित मनुष्य की कोई सुविचारित अवधारणा शिक्षा-व्यवस्था में नहीं देखी जा सकती। स्वार्थ के लिए नैतिकता को ताक पर रखकर चलने वाला, अपने से कमजोर का शोषण करने को तैयार और समाज का अगुवा होने का दम भरने वाला व्यक्ति शिक्षित कहलाता है। वह जिस मुखौटे को पहन कर अपने सामाजिक और आर्थिक हितों के लिए लड़ता है, उसी मुखौटे का नाम शिक्षा है। विशेषकर राज्य की शक्ति और सुविधाओं का उपयोग अपने पक्ष में करने के लिए यह मुखौटा बहुत काम का है। वह शिक्षित मनुष्य के सारे वर्गीय हितों को छिपा कर उसे साधारण, निरक्षर जनता से भिन्न और श्रेष्ठतर नागरिक के रूप में सामने रखता है।

इस मुखौटे की भंगिमा समझनी हो तो प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों की ओर नज़र दौड़ाना सुगम रास्ता होगा। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों का उद्देश्य उस बहुसंख्य समाज तक पहुंचना है जो अपने बचपन में शिक्षा-व्यवस्था के दायरे से बाहर रहा। जाहिर है, मैं यहां उन देशों की बात नहीं कर रहा जहां प्रौढ़ शिक्षा सामान्य शिक्षित लोगों की अपनी रुचियों या स्थानीय कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने में मदद देती है। हमारे देश में प्रौढ़ शिक्षा की घोषणाएं भले इसी किस्म के व्यापक लक्ष्यों का हवाला देती हों, यथार्थ में प्रौढ़ शिक्षा निरक्षर बड़ों को साक्षरता देने में सक्रिय है। अपनी इसी भूमिका में वह शिक्षित मनुष्य के महिमामंडन का साधन बनती है। कैसे ?

पहला कदम यह रहता है कि निरक्षर लोगों को अंधकारग्रस्त बताया जाये। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के साहित्य और घोषणा-पत्रों में निरक्षर जनता की बेहद निरादरपूर्ण छवि पेश की जाती है। उसे जाहिल, अन्धविश्वासी और विवेकहीन बताया जाता है। दूसरे कदम के तौर पर इस तस्वीर को निरक्षरता से जोड़ा जाता है। तर्क दिया जाता है कि अंधविश्वासों और विवेकहीनता का कारण साक्षरता या शिक्षा का अभाव है। इस प्रकार निरक्षरता के सामाजिक आधार छिपा लिए जाते हैं। वह एक प्रकार की सामूहिक बीमारी या महामारी बन जाती है। महामारी के उन्मूलन का जिम्मा अपने आप शिक्षित वर्ग के पास आ जाता है। दिये गये तर्क अनुसार, यदि निरक्षर मनुष्य विवेकहीन है, जाहिल और अंधविश्वासी है, तो साक्षर मनुष्य विवेकपूर्ण, होशियार तथा दृष्टिवान कहलाएगा। निरक्षर आदमी यदि अंधेरे में जीवन के कष्ट भोगता दिखाया जाये, तो साक्षर आदमी प्रकाश में जीवन के सुखों की ओर आत्म विश्वास के साथ दौड़ता हुआ प्रतीत होता है।

बस यही है उस मुखौटे का प्रतीक-विज्ञान जिसे पहनकर शिक्षित भारतीय अपने हितों की रक्षा करता है। इस प्रतीक-विज्ञान का सार यही है कि शिक्षा या साक्षरता के सामाजिक आधारों पर परदा डालकर शिक्षा को एक व्यक्तिगत उपलब्धि और चारित्रिक कवच के तौर पर पेश किया जाये। बाकी काम खुद-ब-खुद बनता चला जायेगा। निरक्षरता एक तरह की बदनसीबी बन जायेगी। समाज



के शोषित वर्गों की वास्तविक बदनसीबी का कारण उनकी निरक्षरता में नज़र आने लगेगा। इस प्रकार सामाजिक सत्य एकदम उल्टा नज़र आयेगा।

इतना तो हर किसी को दिखाई देता है कि निरक्षर लोग वही हैं जो आर्थिक और सामाजिक रूप से दलित हैं। निरक्षरता उनके दलन का एक परिणाम है। संपत्तिहीन जनता के अधिकारों को कुचलने वाली आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं देती। वह श्रमजीवी समाज को ऐसी परिस्थितियों में रखती है जिनमें उसकी संतान कुपोषित और अशिक्षित रहे। गांव के गरीब बच्चों के लिए कहने को स्कूल अवश्य चलाये जाते हैं, पर उनका इन्तज़ाम ऐसा रहता है कि ज़्यादातर बच्चे एक-दो साल में स्कूल छोड़ दें और पढ़ना-लिखना भी न सीख सकें। इस प्रकार निरक्षरता का प्रजनन जारी रहता है और उसकी जिम्मेदारी स्वयं निरक्षर लोगों के मत्थे मढ़ दी जाती है। सामाजिक सत्य यह है कि निरक्षरता गरीब वर्गों पर अन्यायी व्यवस्था की पकड़ की पहचान है। यही पहचान प्रौढ़ शिक्षा के घोषणा-पत्रों और पाठ्यक्रम में खासतौर से दबायी जाती है। उसकी जगह यह 'सत्य' उभारा जाता है कि निरक्षरता लोगों की अकर्मण्यता की निशानी है।

हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए की प्रौढ़ साक्षरता के तमाम कार्यक्रम लगातार विफल होते रहे हैं। जिस 'सत्य' पर वे आधारित रहे हैं और जिसे हमने अभी-अभी असली रूप में देखा, वह 'सत्य' नयी बात सीखने के लिए ज़रूरी मनोवैज्ञानिक स्थिति को असंभव बना देता है। नयी बात साक्षरता हो या अपेक्षाकृत सरल कौशल, उसे सीखने के लिए ज़रूरी है कि सीखनेवाले के आत्मसम्मान को ठेस न पहुंचायी जा रही हो। यह शर्त प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों की योजना में उसी क्षण टूट जाती है जब साक्षरता सीखने वाले व्यक्ति को विवेकहीन और अंधकारग्रस्त करार दे दिया जाता है। ठीक है कि यह सामूहिक संदर्भ में कहा जाता है, अलग-अलग या व्यक्तिगत सन्दर्भ में नहीं। पर वह प्रौढ़ शिक्षा के समूचे

पाठ व पाठ्य-सामग्री में झलकता है। वह उस प्रत्येक प्रचार वाक्य में समाया रहता है जिसमें सरकार दावा करती है वह निरक्षरता को 'मिटायेंगी' या कि साक्षरता का 'प्रकाश' फैलायेगी।

शिक्षित लोग और विशेषकर प्रौढ़ शिक्षा के निदेशक व कार्यकर्ता इस अपमान को ताड़ नहीं पाते, क्योंकि वह उन्हीं के अहम् की प्रतिछवि होता है। पर साक्षरता सीखने को उत्सुक व्यक्ति के लिए कुछ भी छिपा नहीं रहता। अब्बल तो उसने वह पूरा बचपन जिया होता है जिसमें ठीक से पढ़ने लिखने के अवसर उसके पास नहीं आये। दूसरे वह अपने इर्द-गिर्द निरंतर इस बात के प्रमाण पाता रहता है कि शिक्षित या साक्षर लोग नैतिक और बौद्धिक श्रेष्ठता का पाखंड रचकर शिक्षा का प्रयोग अशिक्षित जनता को दबाये रखने के लिये करते हैं। वह इसे सैद्धांतिक रूप से भले कभी व्यक्त न कर सके पर समझता अवश्य है कि शिक्षित लोग उसे जाहिल व तुच्छ बताकर स्वयं का उद्धार करते हैं और इस सच्चाई को कभी सामने नहीं आने देते कि वे अन्यायी व्यवस्था में सुखी हैं, उसके पक्षधर हैं।

प्रश्न सिर्फ इतना रह जाता है कि साक्षरता का कोई विश्वसनीय कार्यक्रम किस प्रकार चलाया जाये। ऐसे किसी भी कार्यक्रम की तैयारी प्रौढ़ शिक्षा की स्थापित मान्यताओं को छोड़कर ही की जा सकती है। विशेषकर इस मान्यता को तो हमें खुलेआम छोड़ना होगा कि निरक्षर लोग अंधकार से ग्रस्त या अंधविश्वासी हैं। हमें यह सच्चाई स्वीकारनी होगी और सबके सामने उजागर करनी होगी कि अंधविश्वासों की जड़ें शिक्षित समाज में उतनी ही गहराई तक फैली हैं जितनी अशिक्षित समाज में।

सच तो यह है और उसे भी हमें सार्वजनिक रूप से मान कर दिखाना होगा कि देश की मौजूदा शिक्षा अंधविश्वासी



मनोवृत्ति पर कोई असर नहीं डालती, केवल उसे छिपाना सिखा देती है। शिक्षित मनुष्य का दोहरा चरित्र खोलकर ही समाज में संवाद का वह सिलसिला आरंभ किया जा सकता है जो अशिक्षा और साक्षरता के किसी व्यापक कार्यक्रम को भरोसेमन्द और ईमानदार बनायेगा।

ऐसा कार्यक्रम राजनीति से अलग नहीं रह सकता। वह एक कल्याणकारी योजना या सरकारी मिशन की तरह नहीं चलाया जा सकता। उसे चलाने के लिए समूची आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का बेबाक विश्लेषण चाहिए और ऐसे विश्लेषण को लोकप्रिय प्रसार माध्यमों से साधारण जन तक पहुंचाने का साहस चाहिए। यदि सरकार में इतना साहस नहीं है तो उसे प्रौढ़ साक्षरता को एक ठोस कार्यक्रम के रूप में चलाने का सपना छोड़ कर, अपेक्षाकृत कम साहस मांगने वाले किन्तु इतने ही आवश्यक कार्यक्रमों की ओर ध्यान देना चाहिए।

बच्चों की शिक्षा का पुख्ता प्रबन्ध करना ऐसा ही एक कार्यक्रम है। प्रौढ़ साक्षरता के विपरीत बाल-साक्षरता का सफल कार्यक्रम बगैर विशेष राजनीतिक साहस के चलाया जा सकता है। बाल साक्षरता अंततः प्रौढ़ निरक्षरता की व्यापकता को प्रभावित करेगी। किन्तु यदि सारी योजना और चिन्ता ही इस बात को लेकर हो कि निरक्षरता किस प्रकार बनाये रखी जाये तो बाल-शिक्षा कभी पर्याप्त ध्यान और साधन नहीं पा सकती।

(धर्मयुग 3-9 दिसम्बर 1989 से साभार)

कृष्ण कुमार
शिक्षा विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007



किताब का गीत

आखर-आखर पढ़ी किताब।

पढ़ी-लिखी खोपड़ी किताब।

इसमें जितने धरम पुरान
सब के सब स्वारथ के गान
रहे चार सौ बीस देवता
और लिखाते रहे महान
महाझूठ से मढ़ी किताब
आखर-आखर पढ़ी किताब।

इसमें जो लिक्खा इतिहास
राजाओं का भोग विलास
परजा का दरजा ही गायब
राज तिलक हो बनवास
बनवासों की घड़ी किताब
आखर-आखर पढ़ी किताब।

इसमें जो बैठा कानून
माफ उसे कितने ही खून
कोट-कचहरी की कुर्सी के
कित्ते बड़े-बड़े नाखून
नाखूनों से गढ़ी किताब
आखर-आखर पढ़ी किताब।

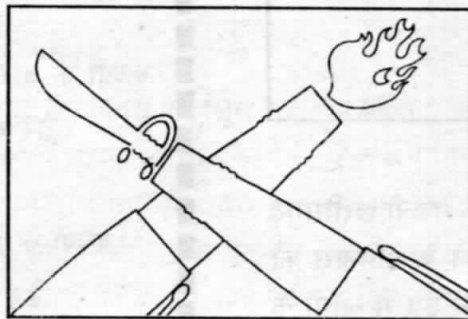
अब बाचेंगे हाथ किताब
जाचेंगे सब साथ किताब
दोबारा खुद को लिक्खेगी
बदलेगी हालात किताब
हालातों से बड़ी किताब
आखर-आखर पढ़ी किताब।

रामकुमार कृषक

साक्षरता, शिक्षा, संगठन : कुछ अनुभव, कुछ सवाल

इलीना सेन

यह लेख छत्तीसगढ़ में पिछले 10 वर्षों के अनुभवों पर आधारित है। इसमें पिछले एक साल का अनुभव सघन रूप से साक्षरता के काम में जुड़ने का है, पर इसके पहले के अनुभवों ने इस सघन काम को मूर्त रूप दिया इसलिए इनका योगदान मैं उतना ही महत्वपूर्ण मानती हूँ।



सन् 1981-82 में मैं दुर्ग ज़िले के दक्षिणी छोर में खदान मज़दूरों के एक संगठन से नज़दीकी से जुड़ी रही।

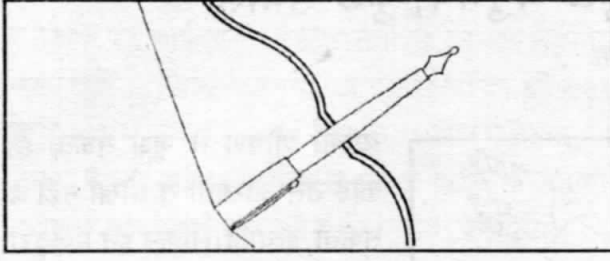
यहां संगठन व कार्यकर्ताओं की भूमिका मूलरूप से शिक्षात्मक ही थी, लेकिन छुटपुट प्रयासों को छोड़कर यहां शिक्षा या साक्षरता के व्यवस्थित कार्यक्रम कभी नहीं उठाए गये। विशुद्ध बौद्धिक नज़रिए से देखने पर यह कई बार अजीब लगता है, क्योंकि 10,000 के लगभग सदस्यता वाले संगठन में साक्षरता का औसतन दर बहुत ही कम था। महिलाओं में यह दर और भी कम था और महिलाओं के साथ अलग से बातचीत में कई बार ऐसा लगता था कि अपनी शिक्षा की कमी से उन्हें दुख था। कई बार महिलाओं से बात भी हुई कि साक्षरता या शिक्षा की कुछ व्यवस्थित कक्षाएं उनके साथ चलाई जाएं, लेकिन कई कारणों से यह कभी संभव नहीं हुआ। सबसे बड़ी बात तो यह कि 8 घंटे खदानों में काम, फिर घर का काम, फिर संगठन का काम, बैठकें - इसके बाद उनके पास समय बचता ही कहां था?

वैसे संगठन में शिक्षा या साक्षरता को लेकर उत्साह की कमी के पीछे कुछ और बातें भी थीं। आमतौर पर साक्षरता खासतौर पर वयस्क साक्षरता को आगे बढ़ाने के लिए जो तर्क दिये जाते हैं, वे इस परिस्थिति में लागू नहीं होते थे। साधारण रूप से यह कहा जाता है कि साक्षर

व्यक्ति शोषण से जूझ सकता है, कोई उसे आसानी से धोखा नहीं दे सकता, इत्यादि। लेकिन इन मज़दूरों के लिए काफी हद तक संगठन ने शोषण से मुक्ति दिलाने की भूमिका निभाई थी। एक ज़माना था जब ठेकेदार व साहूकार इन्हें लूटते थे। लेकिन जब से इनका मज़बूत

संगठन बना, तब से इस प्रकार का खुल्लम-खुल्ला शोषण असम्भव हो गया। संगठन से मज़दूरों की आर्थिक हालातों में भी काफी मज़बूती आई थी, इसलिए ऐसा भी नहीं था कि शिक्षा से ही मज़दूर तरक्की कर लेंगे। संगठन ही यहां तरक्की का आधार दिखता था, और शिक्षा या साक्षरता के व्यवहारिक लाभ स्पष्ट दिखते नहीं थे। इन सारी बातों के साथ-साथ एक बात यह भी थी कि ऐतिहासिक रूप से पढ़े-लिखे लोग ही इन मज़दूरों को ठगते आये हैं, इसलिए शिक्षा या शिक्षितों के प्रति स्वाभाविक रूप से अश्रद्धा की भावना बनी हुई थी।

यद्यपि औपचारिक शिक्षा में संगठन व मज़दूरों ने खास दिलचस्पी नहीं दिखाई, संगठन का एक व्यापक शिक्षात्मक प्रभाव मज़दूरों के जीवन पर था। संगठन ने मज़दूरों के आत्मविश्वास को जगाया था, और 1977 से 1987 तक कई ऐसे रचनात्मक काम हाथ में लिए जो कि मज़दूरों के जीवन व संघर्ष से जुड़े रहने के साथ ही साथ उनकी समझदारी व भागीदारी बढ़ाने में सक्षम हुए थे। यहां विशेष रूप से हम स्वास्थ्य व सांस्कृतिक कार्यक्रमों का उल्लेख कर सकते हैं। संगठन के प्रयासों से एक अस्पताल व स्वास्थ्य कार्यक्रम खड़ा हुआ जो सस्ता व विज्ञान संगत इलाज एवं स्वास्थ्य से संबंधित जानकारी को लोगों तक पहुंचाने में काफी हद तक सफल रहा। कार्यक्रम का संचालन मज़दूरों के हाथ में था व उसके मुद्दे भी मज़दूरों



के अनुभव पर आधारित थे। सांस्कृतिक मंडली छत्तीसगढ़ की जनता के शोषण के खिलाफ लड़ने के इतिहास को गीतों व नाटकों के माध्यम से आकर्षक रूप में लोगों के समक्ष प्रस्तुत करती रही। इन प्रयासों की सफलता ने यही सीख सिखायी कि जमीन से जुड़े हुए मुद्दे लोगों में गहरी पकड़ बनाते हैं व ऊपर से थोपे गए तौर-तरीके व मुद्दे कभी भी गहराई तक पहुंच नहीं पाते।

सन् 1988 के बाद जब मैंने यहां से थोड़ा हटकर रायपुर शहर में काम करना शुरू किया तब मेरी शिक्षा के क्षेत्र में काम करने की इच्छा थी, लेकिन काफी समय तक यह स्पष्ट नहीं हो रहा था कि यह कैसे हो। इस समय तक साक्षरता मिशन ने काम शुरू कर दिया था और स्वैच्छिक क्षेत्र में साक्षरता के कामों को बढ़ावा देने पर मिशन का भी काफी जोर था। अभियान के रूप में साक्षरता के काम को बढ़ाने में मुझे रुचि नहीं हुई क्योंकि सिनेमा, विज्ञापन से लेकर हर सामग्री का प्रचार अभियान के तौर पर होता है, लेकिन सिनेमा बीमारी या चाहत से स्वतः प्रभावित लोगों को छोड़कर अप्रभावित लोगों पर इन प्रचारों का कहां तक असर होता है? परन्तु मुझे यह जरूर लगा कि मिशन द्वारा उपलब्ध कराए गए मौके का फायदा उठाकर साक्षरता व शिक्षा के क्षेत्र में अपनी रुचि का कुछ काम करना संभव है। इन्हीं विचारों के साथ हमने पिछले साल से साक्षरता व शिक्षा पर सघन रूप से काम करना शुरू किया।

डॉ. इलीना सेन
रूपांतर'

पोस्ट बॉक्स 130
रायपुर - 492 001

॥ बच्चों के बारे में ॥

बच्चों के बारे में बनाई गई ढेर साई योजनाएं
ढेर सारी कविताएं लिखी गईं
बच्चों के बारे में
बच्चों के लिए खोले गए ढेर सारे स्कूल
ढेर सारी किताबें बांटी गईं
बच्चों के लिए
बच्चे बड़े हुए
जहां थे वहां से
उठ खड़े हुए बच्चे
बच्चों में से कुछ बच्चे
हुए बनिया, हाकिम, नेता और दलाल
बच्चों में से कुछ बच्चों ने
तोड़ा पत्थर सड़क पर
दुकान में धोई प्यालियां
टट्टी घर साफ किया
तमाचे खाए
बाज़ार में बिके कौड़ियों के मोल
और गटर में गिर पड़े
बच्चों में से कुछ बच्चों ने
आगे चलकर फिर बनाई योजनाएं
बच्चों के बारे में
लिखी कविताएं
स्कूल खोले
किताबें बांटी
बच्चों के लिए
गोरख पाण्डेय

साक्षरता :- सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

सुरेश चन्द्र शुक्ल

52-53 वर्ष पूर्व नई-नई कांग्रेसी सरकारों के ज़माने में, एक स्कूली बालक के रूप में मैंने साक्षरता दिवस के जुलूस में नारे लगाए थे। 'ईच वन टीच वन' (प्रत्येक व्यक्ति एक अन्य को पढ़ाए) बड़ा क्रांतिकारी नारा लगता था। तबसे कई उतार-चढ़ाव और मोड़ देखे। बदनसीबी यह है कि उस सारे इतिहास से हर दशक के नए कार्यकर्ता कोई सबक नहीं लेते। वहीं बहसों दोबारा होती हैं और समझ को पुराने ही स्तर पर कायम रखती हैं, काम करने वालों को भ्रमित और किंकर्तव्यविमूढ़ करती रहती हैं। किसी हद तक तो यह होना लाज़मी है पर जब व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा और उदंड अहंभाव से नई पीढ़ी के नेता पुराने इतिहास को जानकर अनजाना कर देते हैं व समझ और अवसर होने पर भी प्रौढ़ शिक्षा के ऐतिहासिक अनुभव से सबक लेकर काम में नए कीर्तिमानों तक पहुंचने के बजाए पुराने स्तरों पर ही काम और सोच पर लगे रहते हैं तो क्या कहें? खैर!

आज़ादी के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व बंटवारे और मारकाट से भयभीत था। अभी-अभी वह आज़ादी के आंदोलन को नौसैनिक विद्रोह, मजदूरों की हड़ताली मुहिम और आज़ाद हिंद फौज़ के बाद के क्रांतिकारी प्रभाव से छुड़ा पाया था। इसलिए 'शांति' और 'व्यवस्था' की राह लेनी थी। इसमें अमीर और मध्यम वर्गों पर दबाव डालकर, आम प्रौढ़ शिक्षा के लिए साक्षरता व जनजागृति के लिए नौजवान छात्रों और अध्यापकों के उपयोग, जनशिक्षा पर खर्च बढ़ाना, ऐसे आयाम तो सूझे नहीं। साक्षरता के बुनियादी कर्तव्य को सामाजिक शिक्षा (सोशल एड्युकेशन) जैसे नारों में उलझा दिया गया जो अपने में गलत भी नहीं थे और देखने-सुनने में आकर्षक भी थे पर साक्षरता के मूल कार्य से ध्यान हटाते थे। मेक्सिको के एक गांव में सफाई, बच्चों की बीमारी से बचाव आदि कार्यों की बुनियादी शिक्षा यूनेस्को ने प्रचारित की। उसी तरह हम

भी नए बने राष्ट्रीय मूल शिक्षा केंद्र के द्वारा साक्षरता के बदले "और अधिक मूलभूत कार्य" करें जैसे नारों के पीछे लग गए। यदि साक्षरता का धुआंधार आंदोलन छोड़ा जाता तो भी यह "मूलभूत" शिक्षा तो होती ही। परंतु इसके बहाने साक्षरता की मुहिम को किनारे कर दिया गया। नाम के लिए साक्षरता छोड़ी नहीं। फिर 'सामूहिक विकास' जैसे "रचनात्मक" कार्यों में इसे मिला दिया गया।

बराबर पूंजीवादी, मध्यवर्गी, सामंती विकास की देश की राह में साक्षरता को विशेष स्थान नहीं दिया गया। यह भी तर्क हुआ कि जब सबको प्राथमिक शिक्षा मिलने लगेगी तो निरक्षरता अपने आप ही समाप्त हो जाएगी। ऐसी ही ध्वनि राममूर्ति समिति के 'शिक्षा नीति की समीक्षा' पर बहस के प्रपत्रों से भी फिर निकल रही है। 1960 के दशक में संयुक्त राष्ट्र में निरक्षरता के विश्व-व्यापी प्रकोप पर त्राहि-त्राहि हुई। तेहरान में प्रतिक्रिया स्वरूप ईरान के शाह की अध्यक्षता में निरक्षरता पर विश्वसम्मेलन हुआ। निरक्षरता को एक महामारी माना गया। परंतु तीन से चार वर्षों तक यूनेस्को तथा संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के विशेषज्ञों ने यह समझ प्रचारित की कि साक्षरता के काम को विकास के क्रम से जोड़ना आवश्यक है। एक तरफ यह खोज हुई कि विकास कैसे होता है और इसमें साक्षरता की कितनी आवश्यकता है।

भारत में साक्षरता को सघन खेती विकास कार्यक्रम से जोड़ने के प्रयास से पता चला कि 30 जिलों के 2-3 प्रतिशत लोगों को साक्षर बनाने से विकास का काम तो पूरा हो जाएगा। नतीजा, बाकी 97% की साक्षरता पर जोर देने की कोई आवश्यकता नहीं। राष्ट्र के अक्रांतिकारी वातावरण और विकास के पूंजीवादी, अमीर किसान आधार को इतना ही चाहिए था और इतना ही किया गया।

दूसरी ओर साक्षरता विशेषज्ञों को यही सलाह मिली कि साक्षरता की पाठ्य सामग्री काम से जोड़ी जानी चाहिए। पाठ में शब्दावली काम की शब्दावली से निकलनी चाहिए। जनसंस्कृति, मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं यह सब गौण हो गए। कार्यात्मक साक्षरता (फंक्शनल लिटरेसी) का अर्थ निकाला गया कि केवल वही साक्षरता जो काम से जुड़ी हो। और केवल उन्हीं के लिए साक्षरता जो काम से जुड़े हों। बाकी बेकार (और भूखे) लोगों की शिक्षा का कोई जिक्र नहीं।

आज फिर, कुछ इसी प्रकार का वातावरण थाईलैंड में "सबके लिए शिक्षा के विश्व सम्मेलन" मार्च 1990 से झलक रहा है। प्राथमिक शिक्षा प्रभावी है, प्रौढ़ शिक्षा नहीं। कुछ अतिक्रांतिकारी लोग नारा उठा रहे हैं - साक्षरता से जनता के अन्य महत्वपूर्ण संघर्षों से ध्यान बंट जाएगा या साक्षरता प्रगति के बजाय प्रतिक्रिया के सबक भी सिखा सकती है। 50 वर्ष का इतिहास तो यह दिखाता है कि यह सब बहाने बन जाते हैं - लोगों की साक्षरता के प्रयास जोरों से न करने के। साक्षरता एक हथियार है लोगों को चेतना देने, स्वयं उनकी चेतना को बढ़ाने, विकसित करने का। इसके बारे में कोई संदेह उत्पन्न करना केवल लोगों के प्रति माई-बापनुमा रूख दिखाता है जो देश का सशक्त उच्च व मध्यम वर्ग आम जनता के प्रति रखता है।

एक सबक तो स्पष्ट है, जिस वर्ग के हाथ में सत्ता है वही ज्ञान की इजारेदारी का प्रयास करता है। और यदि कोई विशेष आंदोलन या प्रयास न किया जाए तो ज्ञान और शिक्षा (साक्षरता) दौलत और सत्ता के पीछे-पीछे चलते हैं। पिछली चार जन-गणनाओं में 17, 24.5, 29, 36.6 प्रतिशत साक्षरता से दिखता यह है कि हमारे इस देश में जहां 40-50 प्रतिशत लोग भुखमरी के स्तर पर रहते हैं। साक्षरता प्रसार की बढ़त स्थिर रही या घटती जा रही थी। ऐसा लगता था कि 50-60 प्रतिशत लोगों की साक्षरता के बाद बाकी 40 भूखे ही रहेंगे और निरक्षर भी। इससे इस बात की ओर इशारा होता है कि साक्षरता अभियान को सफल बनाने के लिए समाज में उन मूलभूत आर्थिक और संस्थाविक-सामाजिक परिवर्तनों

के लिए भी प्रयास करने की आवश्यकता है - जो गरीबी और भुखमरी के इस बुनियादी अनर्थ को समाप्त करें। इस संबंध को समझने से यह नतीजा निकालने की आवश्यकता नहीं कि जब तक बुनियादी सामाजिक परिवर्तन नहीं होता साक्षरता के लिए काम न करें क्योंकि सबको साक्षर बनाया ही नहीं जा सकता। नतीजा यह भी निकाला जा सकता है और निकालना चाहिए कि साक्षरता के लिए काम करें और उसमें जो सामाजिक द्वंद्व सामने आये उन्हें सकारात्मक दिशा में हल करने का संघर्ष करें। केरल शास्त्र साहित्य परिषद के आंदोलन और फिर ऐर्णाकुलम के संपूर्ण साक्षरता अभियान से भी यही सबक निकलता है।

एक अंतिम शब्द। अभी कुछ समय से नेशनल सेंपल सर्वे के आंकड़े यह दिखाते हैं कि साक्षरता का स्तर 45 प्रतिशत हो गया। यह पिछले चार दशक के 6 प्रतिशत रेट से कहीं अधिक 9 प्रतिशत या 10 प्रतिशत प्रति दशक की वृद्धि है। यदि यह आंकड़े 1991 की जनगणना से सही निकले तो ऐसा मानना होगा कि शायद देश अपनी तमाम विषमताओं के बावजूद विकास के एक नये ऊंचे पथ पर बढ़ा है। इस विकसित आर्थिक आधार से शिक्षा बढ़ी है। इस संदर्भ में साक्षरता का काम करने वालों को आशा का एक नया आधार दिखना चाहिए। बालशिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा को एक दूसरे के प्रतिपक्षी नहीं सहयोगी के रूप में देखना चाहिये। और दोनों के लिए लोगों की थोड़ी भी आर्थिक बढ़त को शिक्षा का बेहतर आधार मानना चाहिए। और इसके लिए समाज और सरकार से दोनों प्रकार की शिक्षा के लिए और अधिक आर्थिक और संगठनात्मक सहायता मांगनी चाहिए। राममूर्ति समिति के प्रारूप में जो बात साधारण स्कूली शिक्षा और अनौपचारिक शिक्षा के बीच की खाई को पाटने की कही गई है ठीक दिखती है। और उसे आधार बनाकर स्कूलों के प्रौढ़ शिक्षा संबंधी पहलुओं को मजबूत करना चाहिए।

सुरेश चन्द्र शुक्ल

शिक्षा विभाग, (केंद्रीय शिक्षण संस्थान)

दिल्ली विश्वविद्यालय,

दिल्ली - 110 007

सन्तोखी
काका
का
महाभारत
शिवमूर्ति वेणु



सन्तोखी काका लंगड़े नहीं हैं फिर भी रागदरबारी के लंगड़े हैं। बौने नहीं हैं फिर भी मैला आंचल के बावनदास हैं। निरक्षरता उनके जीवन को मरूभूमि बनाकर छोड़ गई है। निरक्षरता के चलते ही वे पिछले 13 वर्षों से महाभारत की लड़ाई लड़ रहे हैं-तनहा। 13 साल पहले आषाढ़ के एक दिन जब गांव का नंबरदार उनकी सत्रह बीघे जमीन पर अपने हल बैल लेकर चढ़ आया तो संतोखी काका एकाएक कुछ समझ ही न सके। उनकी निरक्षरता का फायदा उठाकर उस नंबरदार ने कुछ वर्षों पहले कुछ कागजों पर उनके अंगूठे का निशान लगवा लिया था। फिर नंबरदार के पैसे और प्रभाव तथा संतोखी काका के अंगूठा निशान की बदौलत उनकी ज़मीन नंबरदार के नाम चढ़ गई। संतोखी काका को निरक्षरता का यह प्रथम पुरस्कार था। चार पांच साल तक संतोखी काका नंबरदार के परकोटे पर आकर बैठने वाले अमीन को मालगुजारी चुकाते रहे और रसीद नंबरदार से पढ़वा कर आश्वस्त होते रहे कि अमीन ने ज़्यादा पैसे लेकर कम की रसीद नहीं दे दी है। रसीद किसके नाम है इसे नंबरदार ने पढ़कर सुनाया न संतोखी काका ने सुना। जब नंबरदार ने सारे कागज पत्तर पुख्ता करवा लिए तो एक दिन हल बैल लेकर चढ़ आया। संतोखी काका नंबरदार से हाथ जोड़े, पैर पड़े, गिड़गिड़ाये, पंचायत जुटाई, अनशन किया लेकिन दुर्योधन बिना मुकद्दमा लड़े सुई की नोक के बराबर ज़मीन भी देने को राजी न हुआ। संतोखी काका ने संतोष

करना आत्महत्या माना और मुकद्दमा दायर कर दिया। वह था महाभारत का प्रथम दिवस। एक तरफ साधनहीन संतोखी काका और दूसरी तरफ सर्वसाधनसंपन्न नंबरदार। संतोखी काका को कितने दबाव, अपमान और गाली गलौज से होकर गुज़रना पड़ा इसकी कल्पना सहज नहीं है। इस महाभारत में अभिमन्यु वध भी हुआ। संतोखी काका का एक मात्र बारह वर्षीय पुत्र मार कर गांव के तालाब में फेंक दिया गया।

मुकद्दमे के प्रारंभिक दौर में संतोखी काका अपने कागज़ात गांव के एक प्रौढ़ शिक्षक से पढ़वाते थे। नंबरदार ने इस शिक्षक को अपनी तरफ मिला लिया और ऐन उस मौके पर जब कि संतोखी काका को अगले दिन कचहरी में अपने पक्ष के प्रमाण प्रस्तुत करने थे, उस शिक्षक ने संतोखी काका के कागज़ों के पुलिंदे से कई नकलें और महत्वपूर्ण साक्ष्य गायब कर दिये। निरक्षरता का द्वितीय पुरस्कार। अदालत में जब संतोखी काका को इस विश्वासघात का ज्ञान हुआ तो वह फूट-फूट कर रोने लगे। तभी उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि पढ़े लिखे आदमी और मरकने बैल का कभी एतबार नहीं करना चाहिए। उसके बाद अपने कागज़ात बंचवाने के लिए वे घर से नौ मील दूर अपनी बहन के गांव के मुंशी के पास जाने लगे। इस की फीस के रूप में उन्हें मुंशी के लिए मुर्दा धार वाले कुल्हाड़े से दो तीन बोझ चैला चीरना पड़ता था। कभी सत्तू,

चबेना, गुड़, आम, आलू, हरी मटर, चना, ईख आदि भी ले जाना पड़ता था। कलकटरी, दीवानी, कमिश्नरी आदि द्वारों को कभी जीतते और कभी हारते पार करते हुए संतोखी काका अब हाईकोर्ट पहुंच गये। ज़मीन पर नंबरदार का कब्जा है। मुकद्दमे के पीछे घर का थाली लोटा तक बिक गया है। अब भीख मांगते हैं और मुकद्दमा लड़ते हैं। जब मैंने उनसे उनकी निरक्षरता के कारण मुकद्दमे के कागज़ पत्तों की रख रखाव आदि के बारे में होने वाली परेशानियों की चर्चा करते हुए उनकी 'कांफिडेंशियल फाइल' देखने की इच्छा व्यक्त की तो एक बारगी उनके कान खड़े हो गये। पढ़ा लिखा आदमी और मरकना बैल...लेकिन बाद में कई बार आप से क्या डर? आप तो घर के ही आदमी ठहरे आदि दोहरा कर जैसे स्वयं को ही आश्वस्त किया और अपना बस्ता दिखाने को राजी हो गये।

एक लंबी, चौड़ी और मोटी दफती की जिल्द के अंदर अन्य छोटी-छोटी जिल्दें। अंदर की व्यवस्था देखकर तो मैं सकते में आ गया। निरक्षर होने के बावजूद संतोखी काका इस जिल्द से मनचाहा कागज़ निकाल सकते हैं। इसके लिए उन्होंने विचित्र तरीका निकाला है। उन की हर जिल्द और जिल्द के अंदर रखे हर कागज़ के कोने में उन्हीं के हाथों भगवान राम का मुकुट वाला एक रेखाचित्र बना है। इस रेखाचित्र के ऊपर नीचे दाएं या बाएं एक दो या तीन छोटी-छोटी पड़ी पाइयां (क्षैतिज रेखाएं) खिंची हुई हैं। जो पढ़ी जाती हैं - 'राम के ऊपर एक डंडा' या 'राम के बाएं तीन डंडा' आदि। राम के ऊपर एक डंडा से चिन्हित कागज़ पूरी जिल्द में सबसे पुराना होगा और उसका स्थान जिल्द के कागज़ों में सब से ऊपर होगा। उससे नये कागज़ पर 'राम के ऊपर दो डंडा' चिन्हित होगा और जिल्द में यह दूसरे क्रम पर रखा रहेगा। इसी प्रकार दाएं, बाएं और नीचे डण्डों के निशान बना कर एक जिल्द में प्राचीनता के क्रम में कागज़ों को व्यवस्थित किया जा सकता है। चूंकि उन्हें कागज़ों की किस्म और उनकी प्राचीनता का स्मरण है इसलिए कभी भी कोई भी कागज़ निकाल सकते हैं। जिल्दें भी इसी क्रम में चिन्हित हैं,

मुकद्दमा प्रारंभ होने के पहले के कागज़ातों की फाइल अलग, कलेक्टरी की अलग, दीवानी की अलग आदि। जिन फैसलों के आधार पर उनकी जीत हुई है उनकी कापियां हरे रंग के राम से चिन्हित हैं, जिन फैसलों के आधार पर हारे हैं उनकी कापियां लाल रंग के राम से। पूरी योजना देखकर मन विस्मय और करुणा से अभिभूत हो उठता है। सामने बैठे इस परमहंस के प्रति। कितनी मानसिक क्षमता का अपव्यय करना पड़ता है सरस्वती द्वारा शापित इस अभागे को अपनी इस शैली के आविष्कार करने तथा इसे याद रखने में। इतनी मेहनत और लगन से तो संसार की गूढ़तम भाषा भी सीखी जा सकती थी। यह है निरक्षरता का तीसरा पुरस्कार। वह अभाव सचमुच कितना भयावह है जिसकी उपज है 'राम के ऊपर एक डण्डा'। सफेद कागज़ के तीन पृष्ठों पर मुकद्दमे के दौरान हुए खर्च का हिसाब दर्ज है। हर दस रुपये के लिए एक शून्य अंकित है। पूरे पृष्ठों पर बाएं और दाएं पक्तियों में फैले असंख्य शून्य समूह। असंख्य दस के नोट। जिनको जोड़ने का तरीका ढूंढना अभी शेष है।

संतोखी काका बताते हैं कि मुकद्दमे के प्रारंभिक दिनों में घर के किसी कोने में बादामी कागज़ पड़ा पाते थे तो संभाल कर रख लेते। बाद में बोझ भर चैला चिरवाने के बाद मुंशी जी बताते कि यह तो उनके बेटे की हिसाब की कापी का पन्ना है। बेटे की याद ने उनकी आंखे सजल कर दीं। यह पूछने पर कि उन्होंने पढ़ने का प्रयास क्यों नहीं किया संतोखी काका ने बताया कि जब से पढ़ाई का महत्व समझ में आया तब से मुकद्दमे के अलावा किसी काम की फुरसत ही नहीं मिली। फिर एक भाषा हो तो कोशिश भी करें। कचहरी में हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी सभी की जरूरत पड़ती थी। क्या-क्या पढ़ता?

और कोई भाषा संतोखी काका पढ़ सकें या नहीं लेकिन हिन्दी तो मैंने उन्हें पांच मई (गांव आने के तीसरे दिन) से ही पढ़ाना शुरू कर दिया था और आशा करता हूं कि उन्हीं की जिल्द के कागज़ पर लिखा गया उनका यह महाभारत जब तक दिनमान के पृष्ठों पर छपेगा तब तक वह उसे एक-एक अक्षर जोड़कर पढ़ने लायक हो जायेंगे...।



जादुई शब्द

दाउदा ऐपी

एक अफ्रीकी किसान की कल्पना कीजिये जो कुछ हेक्टेयर अन-उपजाऊ जमीन से जीविका चलाने की कोशिश कर रही है। वह, उसके पति और उनके बच्चों को अपनी गरीबी से छुटकारा पाने के लिए क्या चाहिए? विदेशी कंपनियों द्वारा हथिया ली गयी ज्यादा उपजाऊ जमीन को वापस प्राप्त करना? एक राजनैतिक प्रक्रिया जो उन्हें अपनी जिंदगियों के बारे में तय करने का हक दे? उन्हें जरूरत बुनियादी स्वास्थ्य सेवा व पीने के साफ पानी की है या फिर जन साक्षरता कार्यक्रम की?

यूनेस्को 1946 से साक्षरता को दोनों, एक मानवीय अधिकार व मुक्ति और विकास के औजार के रूप में बढ़ावा देती रही है। साक्षरता को एक ऐसी कुंजी के रूप में देखा गया है जो किसी तरह से "निरक्षरता से पैदा होने वाले भेदभाव, शोषण व तिरस्कार के भुक्तभोगियों को" स्वतंत्र करा देगी। इसके आधार पर पूरी तीसरी दुनिया में जन साक्षरता अभियान के लिए कीमती स्रोत और साधन दिए गए हैं।

ऐसे कई अभियानों को यूनेस्को ने अपनी कसौटी पर सफल मान लिया है। पर वे लोग जिन्हें यूनेस्को ने अपना लक्ष्य बनाया था आर्थिक मंदी, राजनैतिक दमन, कुपोषण व पर्यावरण के संकट में जी रहे हैं। दरअसल जन साक्षरता अभियान के कई मूल्यों के बारे में गंभीर तरीके से सोचा ही नहीं गया। इन कार्यक्रमों में उसी निराधार

आशावाद की झलक दिखाई देती है जिसने विश्वयुद्ध के बाद की उदार राजनीति को भी प्रेरित किया था।

यह अभियान दुनिया के गरीबों की जरूरतों के लिए खास सार्थक नहीं रहे हैं। और इनमें पश्चिमी रुझान के लक्षण रहे हैं जो सामान्य तौर पर भी शिक्षा में पाए जाते हैं। यूनेस्को की चार दशकों की रूढ़िवादी साक्षरता के तीन "पवित्र मिथकों" को चुनौती देना जरूरी है। पहला, यह मत कि मौखिक संस्कृति निरर्थक या साक्षरता हासिल करने में अड़चन है। दूसरा, कि स्थानीय भाषाओं की कोई भूमिका नहीं है और जन साक्षरता अभियानों को सरकार की दफ्तरी (अधिकृत) भाषाओं का उपयोग करना चाहिए। यह विचार यूरोपीय राज की एक सीधी विरासत है। और तीसरा यह विचार कि साक्षरता अपने आप ही अधिक उत्पादन व सामाजिक गतिशीलता पैदा करती है और गरीबी का अंत करती है।

बोलियों का महत्व

दुनिया के अधिकतर लोगों के लिए बोली हुई भाषा हमेशा संवाद का सबसे महत्वपूर्ण तरीका रहा है - ऐतिहासिक परंपराओं और समृद्ध संस्कृति का भंडार और प्रतिदिन की जिंदगी का आधार। ऐसा लगता है कि अधिकतर सिद्धांतवादी और व्यवहारवादी, पढ़े-लिखे और अनपढ़ों के बीच "महान विभाजन" के अस्तित्व को मानते हैं। वे मानते हैं कि मौखिक संस्कृति घटिया है और आदिम समाजों के "पिछड़ेपन" में इसका प्रमुख योगदान है।

इस विचार के आलोचक तर्क करते हैं कि ऐसा कोई विभाजन नहीं है। बल्कि वे यह दिखाते हैं कि किस हद तक भाषा के मौखिक और लिखित रूप एक दूसरे के पूरक होते हैं। "लेखन का विकास सोच के मौखिक ढांचे के तहत ही होता है और यह निरंतर साक्षरता के उपयोगों पर हावी हो सकता है।" जब तक लोगों को यह बताया जायेगा कि उनकी स्वयं की मौखिक भाषा के हुनर निरर्थक हैं तब तक लिखने और पढ़ने की कुशलताएं रहस्यमयी बनी रहेंगी।

साम्राज्य की भाषा

जन साक्षरता अभियानों का दूसरा महान मिथक है स्थानीय भाषाओं को अस्वीकारना। यह मिथक यूरोपीय साम्राज्य बनाने वालों द्वारा स्थापित सामान्य शिक्षा व्यवस्थाओं की पैदाइश है।

ये ब्रिटिश सत्ताधारियों की आर्थिक और राजनैतिक जरूरतों को पूरा करने के लिए बारीकी से बनाए गए थे। शिक्षा उनकी शक्ति को बढ़ाने (फैलाने) के प्रमुख औजारों में एक बन गयी थी। जैसे कि नाईजीरिया में लोगों के लिए मिशन स्कूल ब्रिटिश प्रशासन में नीचे के पदों तक पहुंचने का साधन बन गया था। यदि वे अंग्रेज़ी लिखना सीख लेते और यूरोप के सांस्कृतिक मूल्यों (ईसाई बनने समेत) का पुलिंदा स्वीकार कर लेते तो उन्हें आर्थिक प्रगति व ऊंची सामाजिक हैसियत अपने आप मिल जाती।

अपने उपनिवेशों में फ्रांसीसियों की रणनीति थोड़ी फर्क होती थी। उनमें वे “काले फ्रांसीसियों” का एक छोटा विशिष्ट समूह पैदा करते थे। पाठ्यक्रम में फ्रांस के भूगोल और इतिहास का प्रभुत्व होता था। उन्हीं के पुरखों के बारे में पढ़ाया जाता था और उन्हीं के गुणगान गाए जाते थे। फ्रांसीसी व ब्रिटिश शासन, दोनों के तहत शिक्षा ने एक ऐसा वर्ग पैदा किया जिसने औपनिवेशिक ताकतों की सेवा की और उनके प्रति निष्ठावान रहे। सीमित साक्षरता की बढ़ोतरी से (खासतौर से लिखित रिकार्डों की शुरुआत से ही) भूमि से बेदखली, एक केद्रित नौकरशाही की स्थापना व स्थानीय संस्कृतियों के दमन की नींव डली। इन संदर्भों को देखते हुए इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि साक्षरता विशेषज्ञों ने शिक्षा के प्रसार के लिए स्थानीय भाषा के उपयोग को एकदम अस्वीकार कर दिया है। कारण बिल्कुल सरल है, औपनिवेशिक भाषाओं में महारत हासिल करने से कुछेक लोगों को निरंकुश ताकत मिली। भाषा और शिक्षा के अखाड़े में शोषित और शोषक के बीच में संघर्ष हुआ।

पर असीम बहुसंख्यक लोगों के लिए, खासतौर से ग्रामीण इलाकों में, स्थानीय भाषा लोगों की आकांक्षाओं की सबसे

ताकतवर अभिव्यक्ति रही है। बहुत ही कम जन साक्षरता अभियानों ने इस तथ्य को पहचाना है। ग्रेनेडा, जिम्बाब्वे और बुरुकिना फासो कुछ अपवादों में से हैं। इस प्रश्न को यदि गंभीरतापूर्वक नहीं लिया गया तो साक्षरता हासिल करना सामाजिक नियंत्रण और सांस्कृतिक वंचन का एक ज़्यादा पैना साधन बन सकता है।

समृद्धि की भ्रांति

साक्षरता का तीसरा मिथक है कि निरक्षरों तक कुछ तकनीकी हुनर पहुंचा देना अपने आप समृद्धि और आर्थिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियां पैदा कर देंगे। विकसित और विकासशील दोनों दुनिया में साक्षरता कार्यक्रमों की जड़ में यह मान्यता है। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमेरिका में, वयस्कों के बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम का दावा है कि “जो कोई भी साक्षर हो जाता है वह अपने आप ही आर्थिक रूप से बेहतर हो जाता है, रोजगार खोजने में ज़्यादा सक्षम हो जाता है व बेहतर नागरिक बन जाता है।”

तीसरी दुनिया में इन विचारों को फैलाने के लिए शिक्षाविद विकास के सिद्धांतकारों के साथ मिल गए हैं। वे दावा करते हैं कि साक्षरता से “बौद्धिक क्षमता बढ़ती है” व वह ज़्यादा सक्षम “आधुनिक पुरुष” का सृजन करती है! वे यह भी सुझाते हैं कि साक्षरता की एक महत्वपूर्ण न्यूनतम सीमा रेखा 40 प्रतिशत है। यानि कि अगर किसी देश को आधुनिक होना है तो उस देश की 10 में से करीब 4 हिस्से जनता का साक्षर होना जरूरी है।

यूनेस्को के अत्यधिक प्रभावी “क्रियात्मक साक्षरता मॉडल” के आधार में यही यांत्रिक विचार है जिसे समाजवादी तंजानिया व राजशाही ईरान जैसे असमान देशों ने अपनाया। इस मॉडल से यह अपेक्षा थी कि यह मुख्यतः ग्रामीण जनसंख्या के व्यवहारिक कौशलों और उत्पादकता में बढ़ोतरी करेगा। परंतु वहां के साक्षरता अभियानों से समझ में आया है कि साक्षरता कभी भी “उदासीन” नहीं हो सकती - उसमें उस देश की राजनैतिक विचारधारा के पूर्वाग्रह आएंगे ही।

शाह का सपना

ईरान में, 1970 में, शाह के शासन ने एक महत्वाकांक्षी साक्षरता परियोजना शुरू की। इसके मूल उद्देश्य बहुत मिश्रित थे। कृषि का महत्व कम करके व उद्योगों में पूंजी लगाकर शाह ईरान को एक आधुनिक राज्य बनाना चाहता था। उसने उम्मीद की थी कि इस रणनीति से बहुराष्ट्रीय कंपनियों को आकर्षित किया जा सकेगा। क्योंकि बहुराष्ट्रीय कंपनियां ऐसा विश्वास करती हैं कि जितने अधिक साक्षर लोग होंगे, खरीदने वाले भी उतने ही ज्यादा बढ़ेंगे। इसी के साथ-साथ साक्षरता और अधिक ग्रामीणों को नकद अर्थव्यवस्था में जोड़ पाएगी - व उससे सरकार को सीमावर्ती क्षेत्रों को अपने नियंत्रण में रखने में मदद मिलेगी।

हजारों युवा लोगों के दस्ते "ज्ञान के दलों" के रूप में तैयार किए गए, जिन्हें साक्षरता को गांवों तक पहुंचाना था। शिक्षण सामग्री द्वारा व्यापारिक कृषि के तरीके व नौकरशाही का अतिरिक्त नियंत्रण घुसाया गया। "आधुनिक" विचारों की "महानता" की अवधारणा दिमागों में बैठाई गई। इस अभियान में शहरी मध्यमवर्ग का ग्रामीण किसानों के प्रति तिरस्कार साफ दिखाई देता था - "ईरानी किसानों का मनोवैज्ञानिक रूख ग्रामीण पुनर्निर्माण में एक रोड़ा बना हुआ है।"

इस काम में जबरदस्ती लगाए गए बहुत से साक्षरता के शिक्षकों ने गांवों में जाना नापसंद किया और जहां वे गए वहां उनका असर नुकसानदेह साबित हुआ। "वे कम उम्र हैं और अनुभवहीन हैं। वे अधिकतर शहरों से आते हैं और ग्रामीणों की समस्याओं के बारे में बहुत कम जानते हैं। वे अपने आपको नई परिस्थितियों के मुताबिक ढाल नहीं पाते और न ही जिन लोगों के बीच में काम करते हैं उनसे हिलमिल पाते हैं।"

सत्तावादी ईरानी उदाहरण तीसरी दुनिया के अन्य कई साक्षरता कार्यक्रमों का ही एक प्रारूपिक उदाहरण है। सरकारी शिक्षाविदों और ग्रामीणों का संबंध राजनैतिक

था और उसने नाराजी और विरोध के बीज बोए जो अंततः 1979 तक फैले और जिसका असर शाह का तख्ता पलटने पर भी दिखाई दिया। उस समय का साहित्य पढ़ने से यह पता चलता है कि इन साक्षरता अभियानों की सोच कितनी अधिक अपरिपक्व और एक विशेष वर्ग के मूल्यों से भरी हुई थी। जबकि वो यूनेस्को के विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तावित सिद्धांतों और प्रक्रियाओं पर टिकी थी।

एक नया दल

यूनेस्को के शब्द आडंबर के बावजूद अधिकतर सरकारें साक्षरता के उन कार्यक्रमों को जानबूझ कर टालती रही हैं जिसमें स्वतंत्र विचारों को बढ़ावा या राजनैतिक कार्यवाही को प्रोत्साहन मिलता है। फिर भी अगर साक्षरता सत्ता और धन के पुनः वितरण के साथ-साथ चल सके तो सरकार इसे एक नया समाज बनाने के लिए एक साधन के रूप में इस्तेमाल कर सकती है।

यूनेस्को की विकास योजना की समालोचना के परिणामस्वरूप ब्राज़ील में पाओलो फ्रेरे के अग्रणी काम से बहुत से रेडिकल (अतिवादी) साक्षरता अभियान उभरे। गिनिआ बिसाऊ, मोज़ाम्बिक, निकारागुआ और ग्रेनेडा की समाजवादी सरकारों ने ऐसे कार्यक्रम क्रियान्वित किए जो एक विशेष नज़रिए से जुड़े थे। उनका उद्देश्य समाज में अपने स्थान के बारे में लोगों की चेतना को बढ़ावा देना था।

मल्लाहों के शहरों में भयावह अभाव पर सामूहिक विचारविमर्श से पढ़ने और लिखने के नए कौशलों को इस्तेमाल करने के मौके मिले। शिक्षक और विद्यार्थी सीखने के काम में भागीदार बन गए थे और अधिकतर कक्षा का सामान विद्यार्थियों द्वारा बनाई गई विषयवस्तु पर आधारित होता था। ये ठोस उदाहरण थे जिनसे अंततः साक्षरता फैली, जिससे गरीब लोग अपने को, खुद के संसार को बदल पाने की ताकत से, खुद का इतिहास बनाने वालों के रूप में देख पाए।

पर फ्रेरे तक के अतिवादी (रेडिकल) रूढ़िवाद को (कम से कम जैसा उनकी प्रसिद्ध किताब पेडेगाजी ऑफ द ओपरेस्ड, में अभिव्यक्त किया है) भी हाल में काफी चुनौती दी गई है। आलोचक ये दावा करते हैं कि एक "वर्गरहित" वातावरण फ्रेरे के साक्षरता अभियानों का आदर्श था। जबकि वास्तविकता में यह अनिवार्य रूप से शहरी मध्यम वर्ग की ओर झुका होता था जो इन कौशलों को आगे दूसरे लोगों को दे रहे थे। फ्रेरे को यह मानने पर मजबूर होना पड़ा कि उसका प्रयोग तभी सफल हो सकता है अगर अन्य परिस्थितियां भी उपलब्ध हों। उसने निकारागुआ के साक्षरता अभियानों के बारे में कहा कि "साक्षरता का महत्व उसी समाज में है जो क्रांतिकारी बदलाव की अवस्था से गुजर रहा हो।"

अफ्रीकी सफलता की कहानी

क्रांतिकारी संदर्भ में साक्षरता अभियानों का एक सशक्त हालांकि कम जाना हुआ उदाहरण बुरकीना फासो में पाया जा सकता है। 1960 में नाम मात्र की स्वतंत्रता मिलने के बाद भी शिक्षा व्यवस्था लगभग पहले जैसी ही बनी रही। विश्वविद्यालयों के दो तिहाई विद्यार्थी कानून और उदार शिक्षा पढ़ते रहे जबकि देश की पूरी जनसंख्या में 90 प्रतिशत किसान हैं और खेती ही अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार है। साक्षरता अन्य सभी आर्थिक और राजनैतिक हितों की तरह पुरुषों और शहरियों के लिए सुरक्षित थी।

भूतपूर्व राष्ट्रपति थोमस सानकारा के नेतृत्व में 1983 में हुई क्रांति से एक नई दिशा मिली। परंपरागत प्रमुखों और विशिष्ट शहरी वर्ग की शक्ति हर गांव और काम की जगहों में बनी 'क्रांति की सुरक्षा के लिए समितियों' के पास आ गई। महिलाएं, किसान और युवावर्ग पहली बार राजनैतिक अखाड़े में घुस पाए। सानकारा की सरकार ने वहां की जर्जर व्यवस्था की बुराइयों पर एक के बाद एक हमले शुरू किए। बच्चों को घातक बीमारियों से बचाने के लिए टीके लगाने, पेड़ लगाकर मरूस्थलों को पीछे धकेलने, किसानों को प्रोत्साहित करने और भोजन

में आत्मनिर्भरता के लिए कमांडो अभियान छेड़े गए। साक्षरता इन क्रांतिकारी बदलावों के बल को बनाए रखने का साधन बन गई। सरकार के सामने बहुत बड़ा काम था। अफ्रीका में भी बुरकीना फासो का साक्षरता स्तर बहुत ही कम था। दस नागरिकों में से केवल एक कोई भाषा लिख या पढ़ सकता था। फरवरी 1986 में एल्फा कमांडो नामक परियोजना देश भर के 1000 साक्षरता केंद्रों में शुरू हुई। इस परियोजना में ग्रामीण संस्थाओं जैसे उधार देने वाली यूनियनों और खाद्य बैंकों के 36000 नेताओं को साक्षर करने का लक्ष्य बनाया गया। देश की नौ मुख्य भाषाओं में सामग्री तैयार की गई। जो मलेरिया से बचाव और भूमि संरक्षण के नए तरीकों जैसे प्रायोगिक कौशलों पर केंद्रित थी। कृषि मंत्री सेडाऊ तरोरे के हिसाब से एल्फा कमांडो एक नई तरह का बुरकिनाबे किसान तैयार करने की चिंता के कारण बन पाई थी। ऐसा किसान जो राष्ट्रीय, स्वतंत्र, आत्मनिर्भर हो और योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था बनाने में अपनी भूमिका के बारे में राजनैतिक रूप से जागरूक हो। यह नई तरह का किसान वह होगा जो प्रकृति के आगे न झुक जाए, जो उदासीनता और भाग्यवाद के खिलाफ खड़ा हो सके, जो नवाचार की हिम्मत रखता हो। अनुभवों और एल्फा कमांडो की कमियों से सीखकर सरकार एक और बड़े अभियान की ओर बढ़ रही है। जनवरी 1987 में एक पायलट परियोजना के अंतर्गत नोमगाना नामक गांव में 48 ग्रामीणों (जिनमें आधी महिलाएं थीं) को आठ हफ्तों का साक्षरता का गहन प्रशिक्षण दिया गया। उसके बाद इसे चार हफ्ते और बढ़ाया गया जिनमें इन्हें इन कौशलों को अन्य ग्रामीणों को सिखा पाने के लिए प्रशिक्षित किया गया। यही तरीका अब राष्ट्रीय स्तर पर उपयोग में लाया जा रहा है। साक्षरता प्रशिक्षक को ऐसे अंशकालिक शिक्षकों का समूह प्रशिक्षित करता है - जिनका गांवों में स्थायी आधार होता है।

बुरकीना के साक्षरता अभियान में स्थानीय भाषाओं को इस्तेमाल करने का कारण व्यवहारिक भी था और

राजनैतिक भी। इसका मतलब यह था कि किसानों को लिखना सीखने से पहले एक अन्य भाषा से नहीं जूझना पड़ता था। स्थानीय भाषाओं को भी देश की अपनी संस्कृति पर गर्व विकसित कर पाने का एक सशक्त साधन माना जाता है। इस तरह (अपनी सारी विविधताओं समेत) बुरकीनाबे राष्ट्रीय पहचान की चेतना को मजबूत करने में भी स्थानीय भाषाओं से मदद मिलेगी ऐसी मान्यता बनी है। एल्फा कमांडो के अभियान के बाद अब फालो-अप सामग्री तैयार करने पर जोर दिया जा रहा है। सिर्फ शिक्षा के लिए पुस्तकें ही नहीं पर मूर, दियूला और फुलफुल्दे (वहां की स्थानीय भाषाएं) में अखबार निकालने पर भी।

उसके साथ ही मौखिक संस्कृति की पूरक भूमिका को भी बहुत से तरीकों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है। जैसा कि थौमस सानकारा ने समझाया “विकास के सब पहलुओं में, संस्कृति की भूमिका अत्यन्त प्रमुख है। अपने लोगों से संवाद स्थापित करने का सबसे बढ़िया माध्यम संस्कृति हो सकती है। हमारे जैसे समाज में, जो मौखिक परंपरा पर आधारित है, हमें लोगों तक अपने संदेश पहुंचाने के लिए और मूलभूत मुद्दों के बारे में उनका रवैया बदलने के लिए सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का इस्तेमाल करना ही होगा।”

गाने-बजाने वाले और नाटक मंडलियां प्रदेश भर में घूमती रहती हैं और जहां भी लोग मिल जाएं वहीं अपनी कलाओं का जीवंत प्रदर्शन करने लगती हैं - चाहे पेड़ के नीचे, रात को खुले आकाश तले, स्कूल के कमरे में, खेल के मैदान में या फिर किसी सांस्कृतिक केंद्र में। इसके बाद श्रोताओं के साथ बातचीत होती है जिसमें उन्हें प्रदर्शन में दिखाए गए सामाजिक मूल्यों पर टिप्पणियां करने को कहा जाता है, साक्षरता की बहस पर भी।

इस तरह से साक्षर और निरक्षर लोगों के बीच की खाई को तोड़ दिया जाता है। और यह सिर्फ नाटक में ही नहीं होता। एल्फा कमांडो के जोशीले काम की वजह से विविध प्रकार की सांस्कृतिक विधाओं में कलात्मक रचनात्मकता

की बाढ़ सी आ गई है - कपड़ों पर चटकीले प्रिंट, वृत्तचित्र, विशाल भित्तिचित्र और गीत। “हमारे लिए संस्कृति की कोई दीवारें नहीं हैं, कोई अवरोध नहीं। हर जगह वो हमारी जिंदगी और हमारे संघर्ष का हिस्सा है।”

बुरकीना फासो का रेडिकल साक्षरता अभियान ऐसा दावा कतई नहीं करता कि पूरी प्रक्रिया निष्पक्ष या तटस्थ है। अभियान की शैली और प्रशिक्षण की विषयवस्तु एक खास नज़रिए की तरफदार है। और बुरकीना के लोगों का मानना है कि साक्षरता अभियान की दिक्कतें भी सिर्फ राजनैतिक विकल्पों और निर्णयों से ही दूर की जा सकती हैं। इस तरह से साक्षरता पर से रहस्य का पर्दा उठा दिया गया है और उसके बारे में जो धारणा थी कि वो विकास के लिए एक “खुशकिस्मत शगुन” है उसे भी दूर कर दिया गया है।

अपने आप में साक्षरता अपने साथ अर्थिक विकास नहीं लाती। न ही वो शोषण और दमन से आज़ादी दिलाती है। अगर साक्षरता को सिर्फ कुछ संभ्रांत लोगों तक ही सीमित नहीं रखना तो फिर विकासशील देशों के ढांचों में कुछ गहन परिवर्तन ज़रूरी होंगे। पर इसमें साक्षरता और लिखित शब्द की भूमिका है। जैसा कि उरूवे के लेखक एडुआरडो गेलीएनो ने कहा है, “अगर जो भी लिखा गया है उसे गंभीरता से पढ़ा जाता है, और वो कुछ देर तक पढ़ने वाले की अंतरात्मा को बदल देता है, तो बिना घमंड किए या झूठी विनम्रता दिखाए यह मान लेना चाहिए कि लेखक ने बदलाव की प्रक्रिया में अपनी भूमिका अदा कर दी है - अत्यन्त विशाल का एक छोटा-सा हिस्सा बनकर।” तीसरी दुनिया के ग्रामीण लोगों के लिए समय बहुत ही कम बचा है। पर “पवित्र मिथकों” को हटाकर अगर जन शिक्षण की रणनीति अपनाई जाए तो वो संघर्ष की संस्कृति को जन्म दे सकती है।

(दाउदा ऐपी “रेड” नामक गौरवर्णीय लोगों के समूह के सदस्य हैं, जो शिक्षा से संबंधित है और सांस्कृतिक मुद्दों का अध्ययन करता है। दाउदा ऐपी ने बुरकीना फासो में सन 1988 में गहन अध्ययन किया है।)



ज्योतिबा स्त्री शिक्षा में पहल

नीला हार्डीकर

भारत में महिलाओं और दलितों को शिक्षित करने के सारे प्रयत्न क्यों असफल रहे? सफलता के लिए किस दिशा में प्रयास करना चाहिये? महाराष्ट्र में आधुनिक शिक्षा के इतिहास की खोजबीन से शायद इन सवालों के उत्तर खोजने में मदद मिले।

महाराष्ट्र (तत्कालीन बाम्बे स्टेट) का प्रथम गवर्नर एलफिंस्टन शिक्षा में दिलचस्पी रखता था। सन् 1818 में बाम्बे एजुकेशन सोसाइटी ने स्थानीय निवासियों के लिए पहला स्कूल खोला। इस स्कूल में बिना किसी जाति या धार्मिक भेदभाव के सबको शिक्षा देने का सिद्धान्त मान्य किया गया। परन्तु व्यवहारिक रूप में अंग्रेजों की शिक्षा संबंधी नीति ऊंची जातियों के पक्ष में थी। ब्राह्मणों को संतुष्ट रखना अंग्रेजी सत्ता के हित में था। और ब्राह्मणों के

धर्मशास्त्रों के अनुसार शूद्रों को शिक्षा का अधिकार नहीं होता।

‘उनका समाज में कोई स्थान नहीं है, सारा समाज उनका तिरस्कार करता है। यदि ऐसी जाति में शिक्षा का प्रयास किया जाये तो शिक्षा का प्रसार ही रुक जाएगा। नये उपयोगी ज्ञान से लाभान्वित होकर शूद्रों के अस्तित्व में आने से बड़ी जातियों के लोग उनका तिरस्कार करेंगे, मान्यता नहीं देंगे। अतः ऊंची जातियों को ही नए ज्ञान व शिक्षा का लाभ मिलना चाहिए।’ ऐसा एलफिंस्टन का मत था।

सन् 1826 में ऊंची जाति के प्रतिष्ठितों की शिकायत पर बम्बई के सरकारी स्कूलों से कुनबी, कोरी, मराठे, भण्डारी आदि जातियों के 15-20 छात्रों को स्कूल से निकाल दिया गया। निकाले गये छात्रों को स्कूल में फिर भर्ती न करने का सरकारी आदेश दिया गया।

धर्मशास्त्रों में शूद्रों की तरह स्त्रियों को भी ज्ञान या शिक्षा से वंचित रखने की व्यवस्था है। यह मान्यता दृढ़ थी कि स्त्री शिक्षित होकर स्वच्छन्द हो जाएगी, गलत रास्ते पर चली जायेगी। गंदा साहित्य पढ़कर पतित हो जाएगी। समाज में स्त्री शिक्षा का प्रचण्ड विरोध था। तरह-तरह के अंधविश्वास और अवैज्ञानिक धारणाएं प्रचलित थीं। लड़की पढ़ेगी तो जल्दी विधवा हो जाएगी, और स्त्री पढ़ेगी तो अक्षर इल्लियां बनकर भोजन में आ जाएंगे।

इन परिस्थितियों में अंग्रेजी सरकार स्त्री शिक्षा पर ध्यान न दे यह स्वाभाविक था। मगर समाज सुधारकों और मिशनरियों ने लड़कियों के स्कूल चलाने की कोशिशें की।



पुणे शहर में स्त्री शिक्षा

1830 में श्रीमती विल्सन ने शनिवार वाड़े में लड़कियों के लिए स्कूल खोला। उसमें 6 वर्ष से छोटी कुल आठ लड़कियां थीं। और उन्हें पढ़ाने का काम गुप्त रूप से होता था। आखिरकार दो वर्ष बाद यह स्कूल बंद करना पड़ा। इसके बाद ईसाई बने मोड़क महाशय ने महार बस्ती में लड़कियों के लिए स्कूल खोला। बस्ती वालों के विरोध के कारण यह स्कूल बंद करना पड़ा। सन् 1844 में स्कॉटलैंड मिशन ने मंगलवार पेठ में एक अपेक्षाकृत सुविधा संपन्न कन्या स्कूल खोला। लेकिन 1847 में वह भी बंद हो गया।

इससे नतीजा निकलता है कि पुणे में उन्नीसवीं सदी में स्त्रियों व शूद्रों को पढ़ाना संभव नहीं तो मुश्किल जरूर था। इन्हीं कठिनाइयों में 1 जनवरी 1848 को ज्योतिबा फुले ने भिड़ेवाड़ा में कन्या शाला खोली। शुरूआत में 4 ब्राह्मण, 1 धनगर, 1 मराठा कुल मिलाकर 6 लड़कियों ने दाखिला लिया। फुले दम्पति द्वारा स्त्री शिक्षा का महत्व समझाने पर धीरे-धीरे छात्राओं की संख्या बढ़ती गई। पढ़ाने के लिए कोई अध्यापिका न मिलने के कारण ज्योतिबा की पत्नी सावित्री फुले ने यह कार्यभार संभाला। सत्रह वर्षीय सावित्री बाई पर स्कूल आते-जाते गालियों के अलावा पत्थरों और गोबर की बौछार होती थी। एक बार एक गुण्डे को भी उनकी बेइज्जती करने के लिए भेजा गया। इसके बाद भी वे स्कूल जाती रहीं, पढ़ाती रहीं। 15 मई, 1848 को फुले दंपति ने अछूतों की बस्ती में लड़के-लड़कियां का स्कूल खोला। इसी समय उन दोनों को घर से बाहर निकाल दिया गया। दलितों का यह स्कूल पहले पांच माह चलकर पालकों के सहयोग के अभाव में बंद हुआ। परन्तु कुछ समय बाद ज्योतिबा के सहयोगी लहुजी राव और रनबा महार ने भाग-दौड़ करके दलित लड़के-लड़कियों को पाठशाला में भर्ती कराया। ये दोनों, लोगों को समझाते कि बच्चे पढ़ेंगे तो उन्हें कोई नीच, अछूत नहीं कहेगा,



उन्हें सामाजिक न्याय मिलेगा। स्कूल चल निकला तो पुणे के पुरोहित वर्ग में तहलका मच गया।

सन् 1849 की समाप्ति तक इन लोगों ने पुणे जिले में तीन स्कूल और खोले। सन् 1852 तक पुणे और सतारा जिले में फुले दंपति ने कुल 18 स्कूल खोले जिनमें से 7 स्कूल पुणे शहर में थे।

तो ये तथ्य हैं। पर सवाल उठता है कि पुणे शहर में मिशनरियों और फुले दंपति की कोशिशों के परस्पर विरोधी नतीजे क्यों निकले? मिशनरी बुद्धि या लगन में इनसे उन्नीस हों इसका तो कोई सवाल ही नहीं। फिर, उन्हीं परिस्थितियों में वे असफल रहे जबकि फुले दंपति सफल हुए। क्या कारण है इस सफलता का?

ब्राह्मणों का आरोप था कि 'एक शूद्र शूद्रों और दास स्त्रियों को पढ़ाकर ब्राह्मणों के बराबर बिठाने का षडयंत्र कर रहा है।' आरोप सत्य है। और उत्पीड़ित जनों की शिक्षा जैसा कि पाउलो फ्रेअरे कहते हैं, शुरू से ही राजनैतिक और पक्षधर होनी चाहिए, अन्यथा वह सफल नहीं होगी।

ज्योतिबा का समाज से साक्षात्कार और संवाद

पेशवाई के अंतिम दिनों में ब्राह्मणवादी व्यवस्था और मुफ्तखोरी की संस्कृति के बोझ से दबी दलित श्रमजीवी जनता के कष्ट देखकर 'माली' जाति में

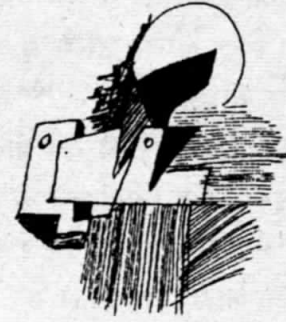
जन्मे ज्योतिराव गोविन्दराव फुले (जन्म 1827) शान्त न रह सके। ज्योतिबा इतिहास के विश्लेषण से इस नतीजे पर पहुंचे कि जाति भेद खत्म करने की दिशा में शिक्षा पहली सीढ़ी है। शूद्रों को अच्छी शिक्षा मिले तो वे अपना भला बुरा खुद ही समझेंगे और हजार सालों से शिक्षा से वंचित, उत्पीड़ित रखने के षडयंत्र को ध्वस्त कर सकेंगे। इसी मान्यता के आधार पर ज्योतिबा ने हंटर आयोग (1882) से गांव-गांव में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की सिफारिश की। उन्होंने आयोग से ऐसी योजना बनाये जाने का निवेदन किया जिसमें स्त्रियों में प्राथमिक शिक्षा का फैलाव अधिक बड़े पैमाने पर संभव हो सके।

ज्योतिबा और उनकी पत्नी सावित्री फुले का साहित्य काश्तकारों और स्त्रियों के दमन, उत्पीड़न से उत्पन्न मर्मन्तक पीड़ा की अभिव्यक्ति से भरा पड़ा है। यह पीड़ा ही उन्हें दलित-स्त्री समाज से सीधे संवाद के काबिल बनाती है। इस संवाद के बिना अध्यापन का असफल होना अवश्यंभावी है।

स्त्री शिक्षा से संबंधित दो भिन्न भूमिकाएं

सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता, लेखिका गेल ओमव्हेट लिखती हैं - 'समाज सुधारकों को स्त्री शिक्षा की जरूरत तभी से महसूस होने लगी थी जब से पुरुषों ने अंग्रेजी शिक्षा के साथ नई जीवन पद्धति अपनाई।' कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि - 'हमने अगर स्त्री शिक्षा का प्रसार न किया तो नवशिक्षित समाज में पति पत्नी के बीच संवाद खत्म हो जायेगा।' सुप्रसिद्ध समाज शास्त्री वीणा मजूमदार इस उद्देश्य का अच्छा विश्लेषण इस प्रकार करती हैं - 'शिक्षा स्त्रियों को उनकी पारिवारिक भूमिका निभाने से दूर नहीं ले जाएगी। बल्कि पत्नियों और माताओं के रूप में उनकी कुशलता बढ़ाएगी। समाज पर पारंपरिक मूल्यों का कब्जा मजबूत करेगी क्योंकि स्त्रियां इन मूल्यों की बेहतर वाहक हैं।' भद्रलोक पुरुष पूर्णतः आश्वस्त थे

अंगूठे का निशान



किसने बनाये
वर्णमाला के अक्षर

ये काले-काले अक्षर
भूरे-भूरे अक्षर
किसने बनाये

खड़िया ने
चिड़िया के पंख ने
दीमकों ने
ब्लैक बोर्ड ने

किसने
आखिर किसने बनाये
वर्णमाला के अक्षर

मैंने मैंने
सारे हस्ताक्षरों को
अंगूठा दिखाते हुए
धीरे से बोला
एक अंगूठे का निशान

और एक सोखते में
गायब हो गया

केदार नाथ सिंह

कि स्त्रियों को पढ़ाने से वे वर्णाश्रम धर्म विरोधी या पतिव्रत्य विरोधी आवाज नहीं उठाएंगी।

ज्योतिबा के शिक्षण संबंधी मत बिल्कुल भिन्न थे। शिक्षा यानी बहुजन समाज की स्त्रियों, दलितों की मुक्ति की लड़ाई का पहला कदम। शिक्षा यानी क्रांति की तैयारी। यह उनका दृष्टिकोण था। खटने वालों को शिक्षा मिले तो उन्हें मनुष्य बनकर खड़े होने का साधन मिलता है, दुनिया, समाज समझने के साधन मिलते हैं, आवाज उठाने के लिए, लड़ने के लिए हथियार मिलता है, यह उनकी धारणा थी। फुले के विश्लेषण के अनुसार हिंसाचार के बल पर यह समाज व्यवस्था स्थिर करने के लिए, बहुजन समाज को रौंदने के लिए धर्मग्रन्थों की भूल-भुलैया का इस्तेमाल किया गया, शूद्रों को जानबूझकर अज्ञान में रखा गया। अतः उनकी नजर में शूद्र-अतिशूद्र व स्त्रियों के मुक्ति संघर्ष में प्रथम सोपान शिक्षा का ही था, इस माध्यम से उन्हें जगाने का था। उन्होंने उच्च शिक्षा की अपेक्षा प्राथमिक शिक्षा पर ही जोर दिया और वह सभी लड़के-लड़कियों को मिलनी चाहिये ऐसा रुख अपनाया। बहुजन समाज में सीखने की इच्छा है और शिक्षा मिले तो शूद्र और स्त्रियां अन्याय विरोधी युद्ध में संगठित होंगे ऐसी अपेक्षा की।

शिक्षा: यानी उत्थान या सत्य की खोज?

यह तय करना कठिन है कि ज्योतिबा का औपचारिक शिक्षा में ज्यादा योगदान था या औपचारिकेतर शिक्षा में। कठिन इसलिए क्योंकि, समाज सुधार, क्रांतिकारी राजनैतिक कार्य और सावित्री फुले द्वारा विधवाओं को सामाजिक छल से मुक्ति दिलाने हेतु बाल हत्या प्रतिबंधन गृह की स्थापना (1853), अनाथ बालिकाश्रम (1864), घर का कुंआ अस्पृश्यों के लिए खोलना (1868) और आगे चलकर सत्य शोधक समाज द्वारा विधवा विवाह, अल्पव्यय में विवाह तथा बिना पुरोहितों के

मंगल उत्सव संपन्न कराना, जप-जाप और कर्मकांडों का विरोध, ये सब सुधार कार्य हैं या जन शिक्षण का पाठ्यक्रम यह कौन तय कर सकता है?

उन्नीसवीं सदी में समाज की कुरीतियों से लड़ने वाले अन्य संगठन भी थे। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि। इनमें और ज्योतिबा की पहल पर 1873 में स्थापित सत्यशोधक समाज में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं। एक फर्क तो नाम से ही स्पष्ट होता है- सामाजिक कार्य और सत्य की शोध ज्योतिबा और उनके साथियों के लिए दो भिन्न घटनाएं हैं ही नहीं। क्या इस मर्म को हम अपने मान्य तंत्र में समाहित कर सकते हैं जिसमें 10 (या संपन्न वर्ग के लिए 20) वर्ष पढ़ना होता है और उसके बाद नौकरी-धन्धे की खोज?

ज्योतिबा और प्रौढ़ शिक्षा

सुधार कार्यों से उपजी अनौपचारिक शिक्षा के साथ-साथ भूगोल, विज्ञान, भाषा शिक्षण के जोड़ का महत्व ज्ञात होने के कारण ज्योतिबा सावित्री ने प्रौढ़ शिक्षण पर भी पर्याप्त मेहनत लगाई। पुणे में 1 मई 1849 को उन्होंने उस्मान शेख के बाड़े में पहली प्रौढ़ शाला शुरू की। दूसरी प्रौढ़ शाला जहां सावित्री बाई ने पढ़ाया वह थी काश्तकारों और मजदूरों के लिए 1855 में खोली गई रात्रि शाला।

इन दोनों शालाओं में पठन सामग्री, पठनविधि क्या होती थी, ये शालाएं कब तक चलीं, इनका समाज में क्या योगदान रहा, आदि की छानबीन करना भी हमारा एक काम होना चाहिए।



साक्षरता व गरीब अनपढ़ की दुनिया

बी.एन. भाटिया

आज सरकार व देश को बहुत चिन्ता है कि अनपढ़ों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। वर्ष 2000 तक भारत में अनपढ़ों की संख्या दुनिया के सभी देशों के अनपढ़ों की संख्या के बराबर अथवा उससे अधिक होने की आशा है। इसीलिये साक्षरता मिशन का गठन हुआ है और शासक वर्ग गरीब वर्ग को साक्षर बनाने के चक्कर में सभी प्रचार माध्यमों का प्रयोग कर रहा है। बार-बार सुनाया जाता है कि गरीब को 'क ख ग' व '1, 2, 3' पढ़ना-पढ़ाना आवश्यक है।

जो लोग साक्षरता के लिये जिम्मेदार हैं, वे मानकर चल रहे हैं कि जो निर्णय वे लेते हैं, वे सब गरीब अनपढ़ लोगों के हित में हैं। गरीब को वही करना चाहिये जिसे शासन अथवा संस्था के अधिकारी निर्धारित करते हैं। गरीब की आवश्यकता व समझ का उसमें क्या स्थान होना चाहिये, इसकी किसी को चिन्ता नहीं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि साक्षरता अभियान तो केवल उनके लिये है जिन्हें विदेशी सेमीनारों व मीटिंगों में भारत के निरक्षरता के आंकड़ों को दुहाराने में शर्म आती है।

मैं पिछले पांच वर्षों से उस आदिवासी क्षेत्र से जुड़ा हूँ जहाँ आदिवासियों में साक्षरता 5 प्रतिशत भी नहीं है। कहीं-कहीं तो पूरे गांव में कोई छोटा, बड़ा, बूढ़ा, आदमी, औरत, हस्ताक्षर करने वाला भी नहीं मिलता। जब उन आदिवासियों से साक्षरता की बात की जाती है तो बड़ा सीधा लेकिन महत्वपूर्ण उत्तर मिलता है, 'पहले हमारे उन बच्चों को तो पढ़ाइये जो स्कूल जाते हैं। फिर उनको जो स्कूल नहीं जाते। उसके बाद हमारा नम्बर आयेगा।' एक अनपढ़ आदिवासी के सामने प्राथमिकतायें स्पष्ट हैं, वह बेवकूफ नहीं है। लेकिन वे शासन अधिकारी जो साक्षरता के नाम के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं, इन प्राथमिकताओं को अनदेखा कर देते हैं।

यदि आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा के स्वरूप का अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि सब बच्चों के लिये स्कूलों की व्यवस्था नहीं है। यदि स्कूल है तो मास्टर नदारद। यदि मास्टर स्कूल लगायें तो उपस्थिति नहीं। बच्चों के पास स्लेट नहीं, पुस्तक नहीं। पिछड़े वर्ग के बच्चों को दी जाने वाली छात्रवृत्ति समय पर नहीं मिलती, यदि मिलती है तो उसमें मास्टर व क्लर्क का हिस्सा होना चाहिये। स्कूल में जाने के लिये ड्रेस (कपड़े) चाहिये, यदि एक बार सिलवा भी लिये तो फटने पर दूसरे सिलाने के लिये पैसे नहीं। शायद कुछ लोग मानने को तैयार न हों। आदिवासी आज अपनी लड़की को स्कूल इसलिये भी नहीं भेजता क्योंकि उसकी लड़की के कपड़े फटे हैं और उसे स्कूल में जाते शर्म आती है। हमने पांच स्थानों पर स्कूल चलाये और हर स्थान पर यह समस्या है। जिन लड़कियों को ड्रेस बनवा कर दी और स्कूल भेजा उनका मनोबल बढ़ा और उनकी पढ़ाई में रुचि सबसे अधिक रही। मैंने बच्चों को स्कूल जाने के लिये मना करते देखा है क्योंकि उनके कपड़े फटे हैं और मां-बाप नये कपड़े सिलवाने को राजी नहीं। गरीब बच्चे में आत्म सम्मान पैदा करने की कितनी आवश्यकता है, इसका हमारे शिक्षा योजना बनाने वालों को तनिक भी आभास नहीं।



स्कूल के बाहर अनगिनत बच्चे हैं जो दिन भर ढोर चराते हैं। यह कहना गलत होगा कि उन्हें पढ़ने की इच्छा नहीं अथवा उनके मां-बाप उन्हें पढ़ाना नहीं चाहते। लेकिन आदिवासियों की, विशेषकर उनकी जो दूरदराज ढाणियों में रहते हैं, हालत बहुत खराब है। दो जून सूखी रोटी मिलने में कठिनाई, जमीन व पानी की कमी, बीमारी में इलाज नहीं, पहनने को कपड़े नहीं, इस पर बढ़ता हुआ परिवार और महाजन का ऋण व सूद। हमें समझना होगा कि यदि आदिवासी का वर्तमान अंधकारमय है तो वह भविष्य की क्या सोचेगा। यदि हम शिक्षित लोग ध्यान से सोचें कि शिक्षा व साक्षरता आदिवासी गरीब के वर्तमान से नहीं जुड़ी है, यदि कुछ लाभ होगा तो भविष्य में होगा और भविष्य के बारे में सोचने की स्थिति में आदिवासी आज नहीं हैं। हमसे एक आदिवासी गांव में पूछा गया 'आप जो पैसा शिक्षा पर खर्च करने को तैयार हो, वह पैसा यदि हमारे पास हो तो उससे हम गांव के 7 कुंयें गहरे करवा सकते हैं और अधिक पानी से एक फसल और मिलेगी।' हमने उनकी प्राथमिकताएं देखते हुए कुछ साधन जुटाये और कुएं गहरे हुये। आज पानी है, वर्षा अच्छी है, गन्ने की खेती कटने वाली है, गुड़ बनेगा और अगले वर्ष के लिये अदरक बोने पर विचार हो रहा है। तीन वर्ष पूर्व जहां दो बच्चे सरकारी स्कूल में जाते थे, आज 18 जा रहे हैं जिनमें 5 लड़कियां हैं।

अनौपचारिक शिक्षा का भी बहुत बोल-बाला है। लेकिन जो दयनीय हालत इस शिक्षा की सरकारी क्षेत्र में देखने में आई, उसके बारे में जितना भी कहा जाये कम है। अधिकतर इस शिक्षा की व्यवस्था, विशेषकर आदिवासी क्षेत्रों में, सरपंच के हाथ में होती है। सरकार पैसा अवश्य खर्च कर रही है लेकिन यह पैसा केवल अनुदेशक की सहायता देने तक सीमित है - 105 रुपये प्रति माह। और कुछ नहीं। इसका शिक्षा अथवा साक्षरता से कुछ लेना-देना नहीं। कुछ अधिकारीगण को भी नौकरी मिल जाती है लेकिन उसके कोई ठोस परिणाम कहीं निकले हों, यह देखने में नहीं आता। हां. स्वयंसेवी संस्थायें इस क्षेत्र में कुछ प्रयास जरूर कर पाई है।

प्रौढ़ शिक्षा के नाम पर भी जितना खर्च हुआ है उसका नतीजा क्या है यह उन क्षेत्रों में जाकर पता लगाया जा सकता है जहां इसके प्रोग्राम चले हैं। साक्षरता अथवा अक्षर ज्ञान अपने में गरीब के लिये कुछ मायने नहीं रखता। जब तक साक्षरता को जीवन के साथ नहीं जोड़ा जाता और साक्षरता के लिये मांग उसकी जरूरतों से नहीं निकलती, तब तक साक्षरता का कोई प्रोग्राम सफल नहीं हो सकता। लोग हस्ताक्षर करना जरूर सीख जाते हैं।

मूल प्रश्न यह नहीं है कि क्या हमें गरीब अनपढ़ को साक्षर बनाना है और क्या उसके लिये साक्षरता अभियान की आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि जो साधन हमारे पास हैं और जो साधन शिक्षा के लिये निर्धारित किये जाते हैं, उनका अधिक से अधिक सदुपयोग कैसे हो। राजस्थान के ग्रामीण व आदिवासी क्षेत्रों में आज अध्यापक नहीं हैं और यह स्थिति पिछले डेढ़ वर्ष से चल रही है। पंचायतें बार-बार याचना करती हैं पर कोई सुनवाई नहीं। विशेषकर आदिवासी क्षेत्रों में जिस प्रकार स्कूलों के संचालन में शिक्षा की उपेक्षा की गई है, वहां यदि साक्षरता अभियान चलायें तो इसे मजाक के सिवाय क्या कह सकते हैं? यदि हम शहरों के मंत्रालयों में बैठकर अपने आपको गरीब का 'दाता' समझेंगे तो कोई सुधार होने वाला नहीं। शिक्षा व साक्षरता देने वाले के लिये नहीं है, पाने वाले के लिये है। इसलिये पाने वाले की भूमिका पहले निश्चित होनी चाहिये। किसी ने शायद ठीक लिखा है।

सबने साक्षरता का ढोंग अपने लिये रचाया
दुनिया को बताया कितनों का उद्धार किया,
जिससे कितनो को साक्षर बनाया जिससे
नौकरी में तरक्की मिले
समाज में सम्मान मिले और
सरकार से अनुदान मिले।
लेकिन अनपढ़ ने क्या पाया?

भूपेन्द्र नाथ भाटिया,
286, आदर्श नगर
जयपुर-302004

जब कलम हल से भारी हो जाए

'यदि मैं अपने लिए पढ़ा तो मैं आलस कर सकता हूँ। पर क्योंकि मैं क्रांति के लिए पढ़ रहा हूँ इसलिए मुझे आलस का कोई अधिकार नहीं है।'

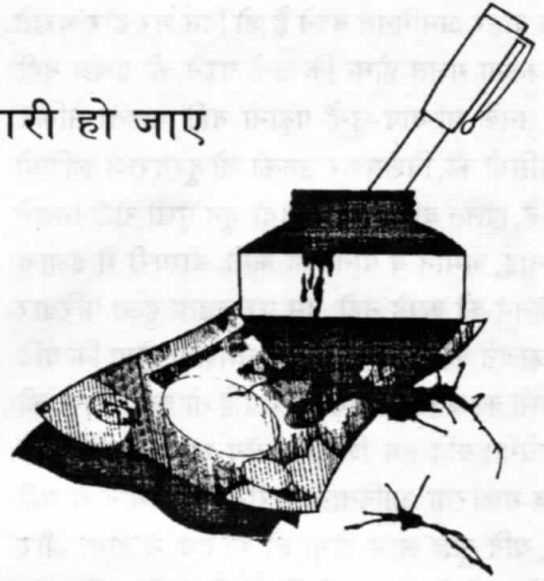
एक विप्लवनामी मजदूर

पोरोमेश आचार्य

इसमें कोई शक नहीं है कि भारत में, साक्षरता के लिए प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम ने राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की स्थापना से एक नया कदम बढ़ाया है। अभी की हालत के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि वर्ष 2001 में भारत में, 15 से 35 वर्ष की उम्र के 11 करोड़ लोग अनपढ़ होंगे। इस मिशन ने 15 से 25 वर्ष आयु समूह के 3 करोड़ अनपढ़ लोगों के पास 1990 तक व और 5 करोड़ के पास 1995 तक कार्यात्मक शिक्षा पहुंचाने का महत्वाकांक्षी लक्ष्य तय किया है। यह अपेक्षा है कि राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के हस्तक्षेप से 2001 में अनपढ़ों की संख्या घटकर मात्र 1.2 करोड़ रह जाएगी।

कार्यात्मक शिक्षा की व्याख्या निम्न शब्दों में की गयी है:

- क) लिखने-पढ़ने व गणित में आत्मनिर्भर होना।
- ख) अपने अभावों के कारणों के प्रति जागृत होना और अपने हालात को बदलने की दिशा में संगठन के द्वारा बढ़ना व विकास की प्रक्रिया में भागीदारी।
- ग) अपनी सामान्य हालत व आर्थिक हैसियत सुधारने के लिए हुनर हासिल करना।
- घ) राष्ट्रीय एकता, पर्यावरण संरक्षण, औरतों की बराबरी, छोटा परिवार आदि मूल्यों को आत्मसात करना।



यह भी कहा गया है कि "साक्षरता उन्मूलन के द्वारा अनुकूल परिणाम प्राप्त करने की दृष्टि से, राष्ट्र स्तर पर निरंतर शिक्षा का एक नेटवर्क भी स्थापित किया जायेगा। नये संस्थागत ढांचों, अभी विद्यमान ढांचों के बेहतर उपयोग, खुली शिक्षा व दूसरे अध्ययन आदि के द्वारा निरंतर शिक्षा के लिए जन शिक्षण निलयम जैसे संस्थागत ढांचों के बारे में भी सोचा गया है।"

औसतन 1 करोड़ लोगों को कार्यात्मक रूप से प्रतिवर्ष साक्षर करने का लक्ष्य हासिल करना सचमुच एक बहुत बड़ा काम है- खासतौर से तब जब अनपढ़ जनसमूह को साक्षरता के लाभों का सचमुच विश्वास दिलाना हो और "गांव के स्तर पर जब साक्षरता में काम करने वाले लोगों में निरक्षरता उन्मूलन जैसी संस्कृति अपनी अनुपस्थिति से सुस्पष्ट दिखती हो।" यह कहा गया है कि, "31.5.89 को हमारे पास लगभग 3 लाख वयस्क शिक्षा केंद्र हैं जिन्हें 513 ग्रामीण कार्यात्मक साक्षरता परियोजनाएं, 850 राज्य वयस्क शिक्षा परियोजनाएं व 32 राज्यों व केंद्र शासित प्रदेशों में फैली हुई स्वैच्छिक संस्थाएं चला रही हैं। कम-से-कम 80 लाख अनपढ़ वयस्कों का इन केंद्रों में नाम लिखा है जिसमें औरतें, अनुसूचित जातियों और जनजातियों का भी अच्छा प्रतिनिधित्व है..... 80 लाख वयस्क शिक्षार्थियों में करीब 40 प्रतिशत शिक्षार्थी आना छोड़ देते हैं। बाकी 60 प्रतिशत में से 20 प्रतिशत वापस

अनपढ़ हो जाते हैं और इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि करीब 40 प्रतिशत ही किसी स्तर की साक्षरता व गणितीय शिक्षा हासिल कर पाते हैं हालांकि वह भी अपेक्षित स्तर जितनी नहीं है।”

यह भी स्वीकार किया गया है कि “इस दर पर तो पूर्ण निरक्षरता निर्मूलन में 50 वर्षों से कम समय नहीं लगेगा।” एक प्रयास इस दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति के लिए जिम्मेदार कारकों को पहचानने के लिए भी किया गया है। बल्कि एक वैकल्पिक योजना इस प्रक्रिया को तेज़ करने के लिए सोची गई है।

सफल हस्तक्षेप के लिए अनुकूल माहौल पैदा करने हेतु जन अभियान व जनता की लामबंदी (मोबिलाईजेशन) वयस्क शिक्षा कार्यक्रम के मुख्य घटक के रूप में सोचे गए हैं। बेहतर परिणाम प्राप्त करने के लिए निम्न तीन वैकल्पिक व्यवस्थाएं सोची गयी हैं।

- क) जन अभियान/लामबंदी तरीके से आगे बढ़ें।
 - ख) पढ़ने/सीखने के लिए अलग तरह का माहौल बनाएं।
 - ग) सीखने की गति बढ़ाएं और समयावधि कम करें।
- बेहतर स्मरण और उपयोगिता प्राप्त करने के लिए सीखने की पूरी गुणवत्ता में सुधार किया जाय।

शायद यह भी सच हो कि केरल के अरनाकुलम और पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिलों को संपूर्ण निरक्षरता निर्मूलन के लिए गोद लेने से किसी प्रकार की जागरूकता की तरंगे, खासतौर से बहुत से और क्षेत्रों के मत बनाने वाले नेताओं और काम करने वालों में, फैली हों। उदाहरण के लिए पश्चिमी बंगाल में, कई और जिलों के शासकीय कर्मचारी और राजनैतिक नेता इसी रास्ते पर चलने की सोच रहे हैं। हम इस तरह के अच्छे लक्षण देखकर शायद काफी उम्मीद बांध सके। परन्तु हमें जो दिख रहा है उसे सच्चाई मानकर बिल्कुल नहीं चलना चाहिये। वयस्क शिक्षा की जटिल समस्याओं को ध्यान में रखना जरूरी है। सतह से नीचे गहराई में झांकने पर शायद हमें अशुभ लक्षण छुपे हुए दिखें। यह जन अभियान के तरीके का मूल्य कम करने के लिए नहीं कहा जा रहा वरन् मात्र थोड़ा

सावधान रहने के लिए सुझाया है। खासतौर से उन क्षेत्रों में जहां साक्षरता बहुत कम है, यह जरूरी है कि जन अभियान के तरीके के विभिन्न अर्थों पर ध्यान दें। यदि शुरूआत नीचे से नहीं होती तो साक्षरता के मील का पत्थर शायद एक छलावा ही रह जाए। और जन अभियान के तरीके की यह सबसे मूल समस्या है।

हमारे देश के साक्षरता कार्यक्रमों की समस्याओं में से एक केंद्रीय समस्या यह दिखती है कि अलग-अलग स्तर पर काम करने वालों, कार्यक्रम की योजना बनाने वालों समेत मैदानी स्तर पर संगठनकर्ताओं, गांव के स्तर पर संगठनकर्ताओं, गांव के स्तर के अनुदेशकों और उन सबसे ज्यादा वयस्क शिक्षार्थियों के परिप्रेक्ष्यों में विसंगतियां दिखती हैं। उदाहरणतः साक्षरता मिशन द्वारा परिभाषित कार्यात्मक साक्षरता की अवधारणा शायद संगठनकर्ता व अनुदेशकों को व्यवहारिक प्रस्ताव न लगने के कारण अस्वीकार्य हो। वास्तविकता में वे कार्यात्मक साक्षरता व साक्षरता में कुछ फर्क ही नहीं करते। उनके लिए जितने अधिक-से-अधिक वयस्क निरक्षरों को “श्री आर” (रीडिंग, राईटिंग, रेसीटेशन - पढ़ना, लिखना, सुनाना) के कौशल दे सकें वही अन्तिम कार्य है।

मैं सोचता हूँ कि न जाने हमारे समाज के कितने लोग जो शिक्षित माने जाते हैं मिशन की परिभाषा के अनुसार कार्यात्मक रूप से साक्षर नहीं माने जायेंगे। मैं नहीं सोचता कि गांव के, समाज के नेता जो आमतौर पर गरीबों को अभावों में रखने के लिए जिम्मेदार हैं उन्हें उनके अभावों के कारणों के प्रति जागरूक होने देना चाहेंगे। कार्यात्मक साक्षरता के जन अभियान गांव के समाज के प्रतिद्वंदी रिश्तों को नजरअंदाज करके कोई स्थायी परिणाम नहीं पा सकते हैं। हमारे देश जैसे एक मुख्य रूप से कृषि प्रधान देश में वयस्क शिक्षा की योजना बनाने के लिए जाति, वर्ग, समाज के टकरावों और विशेष मुद्दों पर टकरावों के हलों की प्रक्रिया जानने आदि के संदर्भ में कृषि संबंधी रिश्तों की समझ की गारंटी देनी होगी। शैक्षिक शास्त्रार्थ की शब्दावली कैसे और कहां तक सोच की जन शैली को पकड़ पाती है यह भी एक उपयुक्त प्रश्न है।

अपनी बात को और साफ करने के लिये मैं अपने कुछ मैदानी अनुभवों को बताना चाहूँगा। हाल ही में अपने एक साथी के साथ मैं पश्चिम बंगाल के एक जिले के एक फील्ड आर्गेनाइज़र से वयस्क शिक्षा के कार्यक्रम की वर्तमान स्थिति व कार्यक्रम चलाने के दौरान सामने आयीं समस्याओं के बारे में जानने के लिए मिला। मैंने कार्यक्रम के वास्तविक क्रियाकलाप देखने के लिए कुछ केंद्रों का दौरा भी किया। यह एक भेद खोलने वाला अनुभव था।

इस जिले में 3540 गांव हैं। जिले की ग्रामीण जनसंख्या 22 लाख है। मात्र 35.8 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या साक्षर है। 15-35 वर्ष आयु समूह के 5,18,164 लोग अनपढ़ हैं जिनमें 1,92,780 पुरुष हैं और 3,25,384

“खासतौर से उन क्षेत्रों में जहां साक्षरता बहुत कम है, यह जरूरी है कि जन अभियान के तरीके के विभिन्न अर्थों पर ध्यान दें। यदि शुरूआत नीचे से नहीं होती तो साक्षरता के मील का पत्थर शायद एक छलावा ही रह जाए। और जन अभियान के तरीके की यह सबसे मूल समस्या है।”

महिलाएं हैं। इसमें 22 विकास खंड हैं जिनमें मात्र 8 विकास खंडों में वयस्क साक्षरता कार्यक्रम है। इन 8 विकास खंडों में 1800 वयस्क शिक्षा केंद्र हैं, 1200 केंद्र 4 ग्रामीण कार्यात्मक शिक्षा परियोजनाओं के अन्तर्गत हैं व 600 केंद्र विशिष्ट रूप से स्थानीय पंचायतों द्वारा चलाए जाते हैं। औसतन प्रति केंद्र करीब 30 शिक्षार्थी हैं। शासकीय स्रोतों के आधार पर करीब 20 प्रतिशत शिक्षार्थी ऐसे हैं जो सीखने का सत्र पूरा होने से पहले पढ़ाई छोड़ देते हैं। बाकी में से 50 प्रतिशत शिक्षार्थी सफलतापूर्वक सत्र के अन्त तक निकलते हैं।

इससे यह निकलता है कि हर वर्ष इस कार्यक्रम से मात्र 16,600 वयस्क साक्षर बनते हैं। इन्हीं शासकीय अधिकारियों के अनुसार इनमें से अधिकतर कुछ समय

बाद, हासिल किए हुए हुनर को इस्तेमाल नहीं कर पाने के कारण वापस निरक्षरता पर पहुंच जाते हैं। जिले में साक्षरता के बाद निरंतर शिक्षा के लिए उपलब्ध 130 पुस्तकालयों के बावजूद ऐसी स्थिति है। औसतन हर विकास खंड में 6 पुस्तकालय हैं। अगर यह कोई सकेत है तो इस जिले में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के हस्तक्षेप के बावजूद वयस्क साक्षरता उन्मूलन के संदर्भ में निकट भविष्य में खास कुछ हासिल नहीं किया जा सकता।

यह देखना दिलचस्प है कि अधिकारियों द्वारा वयस्क शिक्षा कार्यक्रम की पहचानी गयीं सबसे महत्वपूर्ण तीन समस्याएं हैं:

क - वयस्क शिक्षार्थियों में प्रेरणा की कमी। कुछ अंदरूनी प्रतिरोध हैं। शिक्षार्थी कोई भी तात्कालिक फायदा नहीं देखते। अधिकारियों के अनुसार वे देख नहीं पाते कि उनका अपना हित क्या है। अधिकारियों का सोचना है कि उन्हें तात्कालिक लाभ ऋण के लिए अर्जी बनाने, हिसाब-किताब रखने आदि में मिल सकता है।

ख - गांवों के नेताओं की तरफ से पहल की कमी। कार्यक्रम से क्या निकेलगा वे इसको लेकर निश्चित नहीं हैं। वे डरते हैं कि गांवों के समाज में उनकी मध्यस्थता करने की भूमिका शायद खतरे में पड़ जायेगी। अधिकारियों के अनुसार 'अधिक उपज वाली फसलें बिना खेत तैयार किए ही बो दी गयी हैं' यानि जब तक नेता लोगों को मनवान लिया जाए कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता। इससे समस्या की उनकी समझ का साफ दिखने वाला विरोधाभास झलकता है।

ग - गरीबी इस कार्यक्रम की प्रगति में बाधक मानी गयी है। मजदूरों की काम की परिस्थितियां भी एक रूकावट मानी गयी हैं। खेतीहर मजदूर गांव की वयस्क निरक्षर जनसंख्या का सबसे बड़ा हिस्सा हैं। पूरे दिन की कड़ी मेहनत के बाद वे आराम करना या मस्ती करना चाहते हैं और पेन उन्हें हल से भारी लगने लगता है। पढ़ाने-सीखने के तरीके जिनका वयस्क शिक्षा केन्द्रों में इस्तेमाल होता है, उन्हें प्रेरणादायक नहीं लगते। इसके

अलावा मजदूर (औरतों समेत) गांवों से प्रतिवर्ष करीब 3 से 5 महीनों तक अनुपस्थित रहते हैं क्योंकि वे काम की तलाश में अन्य क्षेत्रों में चले जाते हैं।

ये कुछ बाधाएं हैं जो उन्होंने पहचानीं। इसके अलावा बहुत सी और भी होंगी। यह भी ध्यान देने की बात है कि परियोजना अधिकारी जब चुने गये तो वे इस काम के लिए नहीं थे। चारों परियोजना अधिकारी अन्य जिलों से आए हैं। जो काम वे कर रहे हैं उसके लिए उनकी न कोई विशिष्ट योग्यता है न रुझान। हालांकि यह लगा कि वे अपना काम गम्भीरतापूर्वक कर रहे हैं उनके साथ चर्चा करके एक निराशा का अहसास होता है।

बल्कि पांच वयस्क शिक्षा केंद्रों के हमारे वास्तविक दौरों से यह पता चलता है कि वास्तविक परिस्थितियां और भी खराब हैं। हमें आश्चर्य हुआ कि जिस कार्यात्मक शिक्षा केंद्र का हमने दौरा किया वहां हमें एक भी वयस्क शिक्षार्थी नहीं मिला। यह एक महिला केंद्र था। 18 छोटी लड़कियां उपस्थित थीं। केंद्र के रजिस्टर में 32 शिक्षार्थियों के नाम थे। रिकार्ड के अनुसार 14 लोग जिनके नाम लिखे थे 15 वर्ष के हैं जबकि केवल 4 ऐसे शिक्षार्थी हैं जिनकी उम्र 16 वर्ष से अधिक है। रजिस्टर के अनुसार औसत उपस्थिति मात्र 20 है। 6 महीनों से यह केंद्र काम कर रहा है। अनुदेशिका जो स्नातक है व उसने कार्यात्मक शिक्षा का 3 दिन का प्रशिक्षण कोर्स पूरा किया है, वह देखने में ही झेंपी हुई लग रही थी। वह कार्यात्मक शिक्षा कोर्स के लिए तैयार की गई प्राइमर का उपयोग कर रही थी परंतु उसने पढ़ाने का वह ढंग अपनाया था जो किसी भी प्राइमरी स्कूल में इस्तेमाल होता है।

करीब एक कि.मी. की दूरी पर एक प्राइमरी स्कूल है। कुछ लड़कियां जो केंद्र पर उपस्थिति थीं वे प्राइमरी स्कूल में भी जाती हैं। केंद्र मानासर अटान (देवी मानसा की पूजा का स्थान) की एक टूटी-फूटी मिट्टी की झोंपड़ी में था। पहले ही अंधेरा हो चुका था पर रोशनी की कोई व्यवस्था वहां नहीं थी। हर शिक्षार्थी को कार्यात्मक साक्षरता की प्राइमर की एक-एक प्रति मिली थी। कुछ को स्लेटें भी मिली थीं।

इनमें से कुछ थोड़े से शब्द लिख सकती थीं व प्राइमर के कुछ वाक्य पढ़ सकती थीं।

हमने जो दूसरे और तीसरे केंद्रों का दौरा किया वे भी औरतों के केंद्र थे और पहले केंद्रों से कोई फर्क नहीं था। दूसरे केंद्र में दस छोटी लड़कियों के साथ केवल 4 वयस्क शिक्षार्थी उपस्थित थे। तीसरे केंद्र में थोड़े से और वयस्क शिक्षार्थी थे। औसत उपस्थिति 15 से 18 तक थी। अनुदेशिका वही प्राइमर और पढ़ाने का वही औपचारिक तरीका इस्तेमाल कर रही थी। दोनों केंद्र गांव के मानासर अटान में लगे हुए थे। कुछ वयस्क शिक्षार्थी मुश्किल से अपना नाम लिख सकते थे। वे शायद साक्षर होने के पहले चरण में थे। छोटे शिक्षार्थियों का कार्य वयस्क शिक्षार्थियों

“हमारे देश जैसे एक मुख्य रूप से कृषि प्रधान देश में वयस्क शिक्षा की योजना बनाने के लिए जाति, वर्ग, समाज के टकरावों और विशेष मुद्दों पर टकरावों के हलों की प्रक्रिया जानने आदि के संदर्भ में कृषि संबंधी रिश्तों की समझ की गारंटी देनी होगी।”

की तुलना में आमतौर पर बेहतर था। मुझे लगा कि वयस्क शिक्षार्थी ज्यादा तो अनुदेशिका को अनुगृहित करने के लिए आये थे क्योंकि अन्यथा उन्हें डर था कि शायद अनुदेशिका की नौकरी चली जायेगी। इसमें कोई शक नहीं है कि कुछ को यह काम उपयोगी लगा। परन्तु उन्हें घर के सारे कामों के बाद इसके लिये वक्त निकालना मुश्किल लगता था।

दो अन्य केन्द्र जहां हम गए वे पुरुष केन्द्र थे। देखने में पहला केन्द्र जहां हम गए, बहुत व्यवस्थित लगता था। यह एक प्राइमरी स्कूल के पक्के कमरे में लगा था। रजिस्टर में दर्ज 30 में से 17 शिक्षार्थी उपस्थित थे। सबको कार्यात्मक साक्षरता की प्राइमर व स्लेटें मिली हुई थीं। तीन मिट्टी के तेल की लालटेनें भी थीं। अनुदेशक पढ़ाने

के औपचारिक तरीके का पालन कर रहा था। एक रोलिंग ब्लैक-बोर्ड भी था जो दीवार पर टंगा था। अनुदेशक पास के एक गांव से आता है। वह ग्याहरवीं कक्षा तक पढ़ा है और 10 दिनों की ट्रेनिंग किए हुए है। कई शिक्षार्थी अपना नाम लिखना जानते थे और कुछ प्राईमर में से कई वाक्य पढ़ कर लिख भी रहे थे। हालांकि वे साक्षरता और गणित में आत्मनिर्भर होने से बहुत दूर थे। मुझे यह आभास मिला कि अनुदेशक संतुष्ट हो जायेंगे यदि वे तीन 'आर' के कौशलों का बुनियादी ज्ञान दे पायें। वह इससे अधिक महात्वाकांक्षी होने की उम्मीद नहीं कर सकता। शिक्षार्थियों से बात करके लगा कि वे भी इससे ज्यादा अपेक्षा नहीं करते।

यह भी एक दिलचस्प अवलोकन है कि शिक्षार्थी भी पढ़ाने-सिखाने के लिए औपचारिक तरीके को पसन्द करते

“ऐसे निर्णयों के कुछ दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। खासतौर से इसलिए क्योंकि अभी के कार्यक्रम की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से बिना कोई सबक लिये यह किया गया है।”

हैं। उन्हें यह भरोसा है कि स्कूल में इस्तेमाल होने के अलावा इस्तेमाल होने वाला कोई भी तरीका निकृष्ट है। उन्होंने यह स्वीकारा कि पूरे दिन की कड़ी मेहनत के बाद आराम करने का लोभ रोक पाना उनके लिए मुश्किल होता है। उनमें से कई नींद में अक्षर बोल रहे थे और कुछ किसी शब्द के अक्षर दोहरा रहे थे। हमारी उपस्थिति से कोई खास फर्क नहीं पड़ा सिवाय इसके कि अनुदेशक ज्यादा सतर्क हो गया और अपने हुनर को दिखाने की कोशिश करने लगा।

यह ज्यादा दिलचस्प बात है कि इन तीनों अनुदेशिकाओं और दो अनुदेशकों, जिनको हम मिले थे, में से किसी ने भी कार्यात्मक साक्षरता के प्रति कोई सरोकार नहीं दिखाया अलावा इसके कि वे कार्यात्मक साक्षरता की

प्राईमर का इस्तेमाल कर रहे थे। यह कहना शायद गलत न होगा कि कार्यात्मक साक्षरता के लिए मानक प्राईमर ने कार्यात्मक साक्षरता की जान को ही कैद कर लिया है। दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है कि अनुदेशकों के स्तर और क्षमता को देखते हुए बिना एक मानक प्राईमर के शायद कुछ भी पढ़ाई नहीं होगी। मुझे सचमुच नहीं मालूम कि इन दो परिस्थितियों का हल क्या है। उचित प्रशिक्षण से शायद मदद हो पर ज्यादा महत्वपूर्ण है अनुदेशकों का सही चुनाव। शायद हमें ग्रामीण समाज के उलझे हुए सामाजिक रिश्तों को दिमाग में रखकर पूरी प्रक्रिया की रूपरेखा दोबारा बनानी चाहिये।

पश्चिम बंगाल में अनुदेशक प्रायः स्थानीय पंचायतों द्वारा चुने जाते हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि चुनाव की प्रक्रिया राजनैतिक सरोकारों से काफी प्रभावित होती है। इसके परिणाम स्वरूप यह नहीं कहा जा सकता कि हमेशा सही व्यक्ति ही चुने जाते हैं। बल्कि राजनैतिक संरक्षण की संस्कृति का गांव के समाज पर बहुत ही निरुत्साहित करने वाला असर होता है। पंचायत न केवल अनुदेशक का चुनाव करती है बल्कि उसे अनुदेशक के ऊपर आंख रखने की जिम्मेदारी भी मिलती है। अनुदेशक को अपनी मासिक तनखाह तभी मिलती है जब पंचायत यह प्रमाणित कर दे कि उसने महिने भर तक संतोषजनक काम किया है। यानि अनुदेशक का बेकार काम पंचायत के काम करने को भी प्रकट करता है। हालांकि मात्र 100 रुपये में अनुदेशक के रूप में काम करने के सक्षम अनुदेशक मिल पाना भी मुश्किल है। लोग इसे एक तरह का बेरोजगारी भत्ता मानते हैं जो राजनैतिक प्रतिष्ठानों के द्वारा वितरित किया जाता है। इन परिस्थितियों में बेहतर परिणामों की अपेक्षा करना ही बेकार है।

पहले यह बताया है कि अभी तीन केन्द्र गांव के मानासर अटान में लगते हैं। दस साल पहले जब मैंने जिले के चार गांवों में सर्वेक्षण किया था तो मैंने पाया था कि मानासार पाला एक मुख्य जगह होती थी जहां गांव के लोग, खासतौर से मजदूर, अपना मनोरंजन करते थे। पूरे दिन

की मेहनत के बाद मजदूर वहां पाला गान की रिहर्सल करने के लिए इकट्ठे होते थे। एक गांव में मैंने देखा था कि मजदूर लोग पूरे बैसाख के महीने में समकीर्तन में भाग लेते रहे। एक तरह से यह भी शिक्षा की प्रक्रिया थी। मेरे लिए यह आश्चर्य का विषय था कि किसी भी आयोजक या अनुदेशक का मत यह नहीं था कि इन लोक कलाओं का पढ़ाने-सिखाने की प्रक्रिया में कोई उपयोग हो सकता है। जन शिक्षण के जिला स्तरीय इन्चार्ज अधिकारी को ऐसा लगता था कि ये लोक कलाएं गांव के लोगों के लिए अब कोई आकर्षण नहीं रखतीं। वह आधुनिक दृष्य-साधन बनाने का इच्छुक था। मैं सहमत नहीं था।



ऊपर लिखे अनुभवों के संदर्भ में हम जिला नियोजन परिषद के एक हाल ही के फैसले को जांचेंगे। राष्ट्रीय वयस्क शिक्षा के बदले हुए जोर से प्रभावित होकर जिला काउंसिल ने यह कदम उठाया है। हाल ही में परिषद की एक मीटिंग में यह एकमत से तय किया गया है कि कार्यात्मक साक्षरता का एक जन कार्यक्रम इस जिले से वर्ष 1991 के अन्त तक पूर्ण निरक्षरता निर्मूलन के लिए लागू किया जायेगा। जिले से बने मंत्री ने, जिसने इस मीटिंग की अध्यक्षता की थी, अरनाकुलम और मिदनापुर जिलों का उदाहरण देकर सभा को प्रेरणा दी और निर्णय करवाया। सब सहमत थे और सबने सहयोग का वायदा किया। प्रस्ताव को वर्तमान में चल रहे कार्यक्रमों की परिस्थिति का स्टाक लिए बिना ही अपना लिया गया। वास्तविकता में, जिला समाज शिक्षा अधिकारी के आफिस ने जिले में वयस्क शिक्षा का एक एक्शन प्लान बनाया था जो अब बेकार हो जायेगा। ऐसे निर्णयों के कुछ दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। खासतौर से इसलिए क्योंकि अभी के कार्यक्रम की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से बिना कोई सबक लिये यह किया गया है।

यह सच है कि वर्तमान सत्ताधारी पार्टी पश्चिम बंगाल में हज़ारों या लाखों सक्षम स्वैच्छिक कार्यकर्ता इस काम के लिए निकालने में सक्षम है। पर प्रश्न यह है कि

स्वैच्छिक कार्यकर्ता करेंगे क्या? क्या इन्हें, लाखों-करोड़ों अनपढ़ वयस्कों को, थोड़े से समय में, कार्यात्मक साक्षरता देने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है? क्या हम इन प्रयासों को, सामाजिक आर्थिक सीमाओं को नज़रअंदाज करके कायम रख सकते हैं? ये कुछ प्रश्न हैं जिन्हें ऐसे फैसले लेने से पहले अच्छी तरह जांचना चाहिये। बिना सही योजना व बिना पर्याप्त मददगार ढांचों के सफलता की संभावना शायद बहुत ऊंची न हो। पूरी संभावना है कि यह आंदोलन पूरी तरह से एक राजनैतिक खेल ही बन जाए। उस परिस्थिति में निरक्षरता उन्मूलन की प्रेरणा को एक गहरा धक्का लगेगा। निरुत्साह पैदा होगा और राजनैतिक व प्रशासनिक पहलों की नेकनियती पर प्रश्न खड़े होंगे।

हालांकि यदि अभियान के तरीके पर भरोसा किया जाए तो शायद लोगों में जागरूकता पैदा की जा सके और तीन 'आर' के कौशलों के आधारभूत सिद्धान्त काफी सारे निरक्षर वयस्कों को दिये जा सकें। आज के संदर्भ में यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं है।

पोरोमेश आचार्य

एल/एफ-9, अवान्तिका एवेशियन,
कलकत्ता-700039

जन शिक्षण अभियान समूह के साथ बातचीत

होशंगाबाद जिले के बनखेड़ी पिपरिया क्षेत्र में पिछले 15 वर्षों से चल रही उथल-पुथल से कार्यकर्ताओं का एक समूह और ग्रामीण शिक्षा का एक खाका उभरा है जिसने जन शिक्षण अभियान का मूर्त रूप लिया है। उसी क्षेत्र में उभर रहे जन-संगठन के ठोस आधार पर यह समूह उम्मीद कर रहा है कि साक्षरता, रात्रि कक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, बाल अनौपचारिक शिक्षा, सचल पुस्तकालय, सांस्कृतिक गतिविधि, गांव सर्वेक्षण आदि के माध्यम से निरन्तर शिक्षा के प्रभावशाली और सशक्त केन्द्र चलाये जा सकेंगे। यह कार्यक्रम जनशिक्षण अभियान के नाम से जाना जाता है।

एक पुराना अनुभव है कि जब गांव के गरीब लोगों से पढ़ने-लिखने की बात करो तो वे पूछते हैं कि हम क्यों पढ़ें? क्या हमें नौकरी मिलेगी? ऐसे में आप उन्हें क्या समझाते हैं?

● सुनिए, गांव में लोग सीधे पढ़ने लिखने के बारे में रुचि जाहिर नहीं करते। हां, जब उनसे बातचीत होती है, संपर्क संबंधों में बदलते हैं तब उन्हें मालूम पड़ता है कि पैदा होने से मरघट तक अलग-अलग तौर तरीकों से पढ़ा-लिखा जा सकता है।

जिन्दगी में रोजी-रोटी के दबाव और उलझनों से एकदम से छुटकारा कैसे मिलेगा? इसी जदोजहद में से 2-3 घंटे रोज निकालकर पढ़ने लिखने के काम को हुनर की तरह हासिल किया जा सकता है। ऐसी बातों के दरम्यान लोग खुद से अपने अनपढ़ होने के नुकसान के किस्से सुनाने



लगते हैं। हिसाब-किताब, महाजनी लूट, जंगल जमीन के कानून कायदे, कोर्ट कचहरी के किस्से तो यहां हर किसी के पास हैं।

पढ़ना लिखना सिर्फ रोजी रोजगार के वास्ते नहीं है। इसके जरिए रोजमर्रा की अड़चनों से जूझने में भी मदद मिलती है।

जड़ी-बूटी व अन्य जानकारी के बारे में हमारी समझ है कि ये सब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक लिखित की बजाय मौखिक परंपरा से पहुंचती है। पीढ़ी दर पीढ़ी जानकारी जाने से क्या वह खोती जाती है?

● मौखिक परंपरा के जरिए जानकारी का एक से दूसरी पीढ़ी में पहुंचने का सिलसिला जारी है। और इसका अच्छा खासा महत्व मौजूद है। हां, इसके खोते जाने और पीढ़ियों के बीच इस धरोहर के बटवारे में धांधली की बात सही है। फिर भी यह इस तरह से नहीं खोई है कि ढूंढने पर उसे खोजा न जा सके। नई पीढ़ी को अपनी धरोहर पाने के लिए धीरज, बुजुर्ग पीढ़ी की इज्जत और उन स्रोतों से सामग्री दोहन की विनम्रता जरूरी है। ऐसी छोटी-छोटी बातें भी इस बड़े नुकसान का कारण बन जाती हैं।

क्या कुछ गांवों के लोगों ने स्वतः स्फूर्त ढंग से पढ़ने-लिखने की इच्छा प्रगट की? ऐसे गांवों और अन्य गांवों की परिस्थितियों में क्या फर्क है?

● इस ढंग से पढाए जाने की इच्छा उन गांवों में प्रगट

हुई जहां लोग संगठनात्मक गतिविधियों और जनसंघर्ष की प्रक्रिया से होकर गुजरे हैं। संगठन के जरिए एक तरह का शिक्षण होने के बावजूद अक्षर ज्ञान यानि बांचने और लिखने का हुनर उन्हें अभी और चाहिए। दूसरे गांवों में स्वाभाविक रूप से पढ़ने लिखने के बारे में उदासीनता पाई जाती है। पर बातचीत के दौरान इसके प्रति आकर्षण भी तुरन्त जागता है। उन्हें स्कूली तौर तरीकों से हटकर नए रिवाज से पढ़ाने की बातें जल्दी लुभाती हैं।

आपने अपने अभियान के पहले चरण में जिन गांवों को चुना है उसका क्या आधार है?

● सबसे पहला आधार तो यही है कि ये गांव हमारे कार्यक्षेत्र रहे हैं। 'पढ़े न लिखे सुहागपुर रहत हैं' वाली कहावत की पुरानी सोहागपुर तहसील (अब बनखेड़ी पिपरिया और सोहागपुर) की जंगली पट्टी के इन गांवों के साथ हमारा घरोपा सरीखा है। इसके साथ-साथ निरक्षरता, शहर से दूरी, अलग-अलग पृष्ठभूमि, सरकारी योजनाएं, सरकारी कर्मचारियों के कोपभाजन या लापरवाही के शिकार आदि बातों को ध्यान में रखा गया है।

मटकुली और बनखेड़ी में केन्द्र शुरू करते वक्त से ही इन बातों के अलावा क्षेत्रीय स्तर पर लोगों से संपर्क और

संवाद की इच्छा रही है। दोनों महत्वपूर्ण साप्ताहिक बाजार हैं जहां दूर-दराज से बड़ी तादाद में आदिवासी आते हैं।

महिलाओं को जोड़ने के बारे में आपकी क्या सोच है? क्या रणनीति है? क्योंकि आपके समूह में सभी कार्यकर्ता पुरुष हैं?

● हमें अपने समूह में महिला कार्यकर्ताओं को जोड़ना ही है। हम इसके लिए गांवों में ही खोज कर रहे हैं। ताकि महिलाएं लम्बे समय तक जुड़कर अपनी भागीदारी निभा सकें। हमारे काम में वे जुड़ें हमारी तो यही कोशिश है और एक हद तक वह सरसब्ज भी हो रही है।

गांव की परिस्थितियों में क्या महिलाओं का पुरुषों के साथ एक जगह बैठकर पढ़ना-लिखना संभव है?

● हमारा अनुभव रहा है कि गरीब मजदूर वर्ग के महिला-पुरुषों में साथ-साथ बैठने में कोई दिक्कत नहीं आती। पर जो लोग बीच के या संपन्न वर्ग के होते हैं उनके घरों की औरतों का साथ बैठना तो दूर घर से निकलने में भी दिक्कत होती है। अपवादों की बात अलग है।

पलिया-पिपरिया, जुन्हेटा गांव की महिलाएं संगठन की मीटिंगों, संघर्षों में हिस्सा लेती रही हैं, इस कारण उनकी शिक्षक भी टूटी होगी? इन महिलाओं की अपने अभियान में आप कैसी भूमिका देखते हैं?

कोई हंसे चाहे जो मों आय बके

हमतो बिन्ना पढ़े हैं। अरे हमरे बाप दादों की हैसियत नई थी तो नहीं पढ़ लिख पाए। मनो अब ऐसी थोड़ी चल है। पेट काट के पढ़ने पढ़ है तो सुई पढ़ है। इते-उते से चिट्ठी पत्री आ जाए। कोई बीमारी, हजारी की बिया बरात की बात होत है तो आग लगे जा गांव में कोई दो हरफ नई बांच सके। कहबे को चौथी-पांचवीं तक पढ़े हैं।

मोड़ा-मोड़ी तो ढोर चराबे जात हैं। कंडा बीनत फिरत हैं हम लकड़ी फांटा काजे जंगल-जंगल भटकत फिरत हैं। अब जंगल तो नाम के रह गए हैं। सूखी लकड़ियों को बीनत-बीनत दिन डूब जात है। चारा पूरा को बन्दोबस्त जुदा करने पड़त है। अब जे बेजुबान आत्माएं तो अपने खूटा से बंधी हैं।

फारिस्ट बारों के डर की का कहें। जंगल में घुसबों दुसवार हो गओ मनो ने जाए तो खांय का? बात में से बात निकरी तो कह दई। जासे जा मति समझियों का 'भूखे भजन न होय गुपाला'। आधी खा के सो जेहें मनो पढ़बे लिखबे की जा लौ लगी है जा लगीही रहे।

● अभी कार्यकर्ता के रूप में तो नहीं बल्कि एक सहयोगी के रूप में उन्होंने सहयोग की पेशकश की है।

समय-समय पर उनकी भूमिकाओं को सुनिश्चित करने के लिए किसी ठोस कार्यक्रम की जरूरत हम सभी को महसूस होती है। जुन्हैटा में केन्द्र शुरू होने में महिलाओं की भागीदारी और सहयोग उत्साहजनक रहा है। कामती की महिलाओं ने कहा - 'हमारे मुहल्ले में कक्षा चलाओ तो हम अपने बाल बच्चों और आदमी समेत पढ़ने आ सकते हैं।'

गांवों में अपने केन्द्रों पर आप पुस्तकालय खोल रहे हैं। परन्तु जहां अनपढ़ हैं, उनके लिए इस तरह के पुस्तकालय की क्या सार्थकता है?

● हमारे गांवों में पुस्तकालय या इकट्टी किताबें रखने की कोई परंपरा नहीं है। गांवों में ऐसे लोग जरूर रहे हैं जो रामायण, पुराण, आल्हा, भजन, फाग आदि की किताबें जमा करते थे और उनसे लेकर लोग उपयोग करते थे। इसी तरह गांवों में बच्चों का अपनी पाठ्य पुस्तक के अलावा अन्य किसी छपी पुस्तक या सामग्री से कोई वास्ता नहीं पड़ता। बोझिल और ऊबाऊ रंटत विद्या की पाठ्य पुस्तकों से छुटकारा पाकर बच्चों को जब मजेदार



फैसला

अरे तू तो पढ़नी की पूछ भओ है। पढ़के का लाट गवरनर नई हो जैहे। चराने बेटा डोर हैं, डोर। डोरों हे चराओ बामें सार है। पढ़बों लिखबो तो भाग की बात है। ऐसे सबई कुतिएं गंगा जान लग हैं तो हंडिया कौन चाट है।

अरे पढ़के कौन सो तीर मार ले हो। शहरों में लतरी मारे ऐमे, बीये इते उते बिड़ी मांगत घूम रहे हैं और तुमरी खानदान में कहां के वकील बैरिस्टर हो गए? अरे! बाप न दादे तीसरी पिढ़ी, मंगाए पान ले आए बीड़ी।

पढ़बो-लिखबो तो उन्हें सोभत है जिनके मां बाप पढ़े लिखे होत हैं, खूब कमात हैं। अल्ला तल्ला लगे हैं कोई बात की फिकर नई है। बे पढ़ात हैं। अब बता भरोसे का सोचो? मोड़ा है कल से डोरों में भेजने हैं का स्कूल?

किस्से-कहानी, ज्ञान-विज्ञान की जानकारी, रंग-बिरंगे चित्रों से भरी किताबों में मिलती है तो उनकी शैक्षणिक मदद तो होती है, साथ-साथ उनकी कल्पनाओं और अभिव्यक्ति को भी खूब मौके मिलते हैं।

पुस्तकालय की उपयोगिता बच्चों, पढ़े-लिखे लोगों, नव-साक्षरों सबके लिए है। यह उनके लिए भी है जिनका बरसों से छपे शब्दों से सरोकार न रहने के कारण पढ़ने का अभ्यास छूट गया है। सरल, रोचक, मनोरंजक पुस्तकें, समाचार पत्र-पत्रिकाएं, पर्चे-पोस्टर इनके पठन पाठन के लिए अच्छी सामग्री और माध्यम बन सकती है। अनपढ़ लोगों को छपी सामग्री पढ़कर सुनाने से और लोगों को पढ़ते हुए देखकर उनके मन में भी पढ़ने के प्रति ललक होती है।

सुना है आपके कार्यक्रम में बच्चों के लिए भी गतिविधियां होती हैं। इनकी क्या जरूरत है? इसका साक्षरता के साथ क्या संबंध है?

● अनपढ़ भाई बहनों के नहीं पढ़ पाने के पीछे जो दिक्कतें आती हैं, छोटे भाई-बहन संभालना, डोर-बछेरू चराना,

मेहनत-मजूरी, मास्टरजी की मार से तंग आकर स्कूल छोड़ना आदि। क्या हम बड़ों को पढ़ाकर बच्चों को अनपढ़ रहने दें जो बड़े होकर निरक्षर कहलायें? हालांकि हमारी सरकार तो यह मानकर चलती है कि बच्चे तो स्कूल जा रहे हैं। अगर बड़े-बूढ़ों को पढ़ा दिया तो पूर्ण साक्षरता हो जाएगी। पर यह अधूरा सच है।

बड़े लोग भले कह दें कि 'भैया अब पढ़ लिख के का ढोर चरे हैं' पर अपने बच्चों को पढ़ाने को हर व्यक्ति इच्छुक रहता है। एक अनपढ़ भी गांव की पाठशाला की खस्ता हालत, मास्टरजी की गैरहाजरी, ट्यूशनखोरी, आचरण और व्यवहार से नाराज रहता है। हमारा स्कूली ढांचा ऐसा कुंद होता जा रहा है कि वहां बच्चों की प्रतिभा और क्षमता को फलने-फूलने के मौके नाम मात्र को हैं।

बाल गतिविधि के माध्यम से हम स्कूली और गैर-स्कूली बच्चों को विकसित होने के पूरे अवसर और सुविधा प्रदान करना चाहते हैं। ये अलग बात है कि बच्चों के संग काम करने का हमारा पुराना अनुभव हमें बच्चों से जुड़ने और दोस्ती करने का आमंत्रण देता है।

स्थानीय भाषा के शब्द, कहावतें, मुहावरे, गीत आदि इकट्ठे करने का साक्षरता से क्या संबंध है? आप उन्हें क्यों इकट्ठा कर रहे हैं?

● भाषा के मानकीकरण के दबाव व लिखित भाषा के असर के कारण इन अनमोल धरोहरों की जमकर उपेक्षा हुई है। इन्हें चलन से खदेड़ा-सा जा रहा है। शब्द लोप हो रहे हैं। जीवन्त अनुभव पुरातत्व बने बैठे हैं।

स्थानीय भाषा के लोक प्रचलित शब्द, मुहावरे, कहावतें, अटका, किस्सा-कहानी, गीत, स्थानीय इतिहास और परंपराओं को हम लिपिबद्ध करके इकट्ठा कर रहे हैं। ये सालों की परंपरा और आपबीती-परबीती के अनुभवों में रच-बसकर आई हैं। लोग इनके अर्थ और असर को अच्छी तरह जानते समझते हैं।

हम इस कच्ची कही जाने वाली मजबूत सामग्री का खजाना बना रहे हैं। इस जीवन्त धरोहर को हम पढ़ने-लिखने के काम में प्रयोग कर रहे हैं।

यदि आप लोगों को स्थानीय भाषा में पढ़ाएंगे लिखाएंगे तो वे मानक हिन्दी कैसे सीखेंगे?

● स्थानीय भाषा से मानक भाषा की ओर जाना मात्र घर की देहरी लांघने के समान है। अक्षर, लिपि, मात्रा प्रयोग के तरीके तो वही हैं जो मानक भाषा के हैं। इसलिए मानक हिन्दी सीखने में क्यों दिक्कत आएगी।

कई शिक्षाविदों के मन में यह सवाल रहा है कि इस तरीके से हिन्दी कैसे सीख सकते हैं? क्या आप अपने अनुभव के आधार पर कुछ बता पाएंगे?

● बाल गतिविधि कार्यक्रम (किशोर भारती द्वारा 1987 से 1988 तक बच्चों के लिए चलाया गया एक कार्यक्रम) के दौरान स्कूल न जाने वाले बच्चों के साथ पढ़ाई में हमने स्थानीय भाषा का प्रयोग किया। आज वे बच्चे बिना किसी अड़चन के मानक हिन्दी पढ़ लेते हैं, लिख लेते हैं। हमारा अनुभव है कि बोली जाने वाली और लिखने वाली भाषा की एकरूपता से सीखने में ज्यादा मदद मिलती है।

धरती हिल गयी

बा जमाने की पढ़ाई की बात और थी। स्कूल तो तब गांव-गांव में ऐसे खुले नई थे। बड़े-बड़े पट्टेलों के मोड़ों है बिरा बांध के गुरूजी घरे पढ़ात थे।

हमरे बाप तो बसोड़ थे। एक गुरूजी थे का संटर। देखके मोड़ा मूत देत थे। मारत कूटत नई थे मनो उनकी आंखों का वो असर थो कि का बताएं।

बा जमाने के पहली-दूसरी आज के पढ़त्रियों के कान काटत हैं। पहले का इत्ते पढ़त थे। जो कछु गुनत थे वो आज लों काम आ रहो है। हमतो थोड़ों मुतको छुटवां-बड़वां लिख पाए। जा रोज मैंने अपनो नाम लिखो थो बा रोज भूडोल भओ थो। धरती हिल गई थी। जब कोई नओ पढ़बें बारी पढ़बों शुरू करत है धरती की छाती फूली नहीं समाया।

आमतौर पर पढ़ाने-लिखाने के तरीके से आपका तरीका किस तरह से भिन्न होगा?

● कोई भी व्यक्ति अपनी बात अक्षरों में नहीं शब्दों-वाक्यों में बोलता है। जबकि स्कूलों में पढ़ाई की शुरूआत अक्षरों (अ-अनार का) से होती है। अक्षर से पढ़ाई की शुरूआत करना तो उसे पीछे ले जाना है। जिसकी कोई जरूरत नहीं है। शब्दों को जब हम अक्षरों में तोड़ते (विभक्त करते) हैं तो फिर पढ़ने वाला भ्रमित हो जाता है। स्वर मात्राओं में उलझ जाता है। जो शब्द या वाक्य वह बोलता है उसको ही पहले-पहल लिखना-पढ़ना सिखाना चाहिए।

प्रौढ़ों की पढ़ाई लिखाई की शुरूआत छुटवा, बड़वा से करना व्यवहारिक दृष्टि से भी ठीक नहीं है।

वाक्य → शब्द → अक्षर → मात्रा → पढ़ना

बाल गतिविधि कार्यक्रम में बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए आपने क्या किया था?

● कहानी, कविता पढ़कर सुनाना, कविताओं को मोटे अक्षरों में लिखकर दीवार पर चिपकाना, बच्चों की

उंगलियां पोस्टर/किताब पर रखकर पढ़ते जाना। बच्चा बोलने के साथ-साथ उसका लिखित रूप देखकर पहचानने एवं तालमेल करने की कोशिश करता था।

जब तक बच्चे पढ़ना नहीं सीखें तब तक कक्षा में यही क्रम चला। कविताएं बदल-बदलकर उनके पोस्टर चिपका दिए जाते थे और उनका अभ्यास कराया जाता था। कहानी-कविता की किताबों को बदल-बदलकर पढ़ते हुए छोटे शब्दों पर अंगुलियां रखते जाना साथ ही साथ चलता रहा।

बच्चों की मनपसंद की कविता में उन्हें अक्षर पहचानने में सरलता होती है। उनकी पसंद की कविता की अलग-अलग लाइन कागज के टुकड़ों में लिख दी जाती और उनसे मिलाने के लिए कहा जाता था तो वे कविता को पूरा जोड़ लेते थे।

इसी तरह जो किस्से कहानियां गाने बच्चे बोलते थे उनको लिखकर चिपका देते थे। अपनी कही बोली बात को लिखा देखकर, दीवार पर चिपका देखकर उनको अद्भूत खुशी होती थी। चित्रकारी, मिट्टी के खिलौने, कठपुतली, गांव में घटी-घटनाओं पर कहानी लिखवाना इन सब गतिविधियों

मेरो मास्टर

मैं इत्तो बूढ़ो हो गओ कोई पढ़बे की कहे मैंने कलम तक नहीं छी। हमरे सियानें कोई हीने दूबरे तो नई थे। चार बखर चलत थे, चार। हमरे पराजे बड़े जंडेल आदमी थे। उनकी मार में तो मास्टर तक मूत देत थे। मनो इत्ती इज्जत करते थे मास्टरों की कि दूर से देख के बिड़ी फेंक देत थे। जब मेरो नाम लिखो तो उनने साफ के दई थी। गुरूजी कोई मुरउत की बात नई। हड्डी-हड्डी हमरी और मांस-मांस तुमरो। अगर हम कोई उजर करें तो कहियो। खैर मेरी तो पिटाई बरकत रई मनो दूसरे मोड़ों हे गुरूजी ऐसो पटीलत थे के आज लों कटारे उठ आत हैं। मैं नई गओ तो नई गओ। बांध-बांध के दूर धाई स्कूल घसीटत ले गए मनो मैं बेभां नई थुबो। सब बिट्टया के हार गए। घर के कहत थे बेटा अबे तो लांड-दुलार में सब हरो-हरो सुझ रओ है, फिर पछताने पड़ है।

सियानों की सीख आज सामें खड़ी है। वा चानिस पढ़ लिख लए होते तो आज सड़ी-सड़ी पुर्जा पर्ची लेके जाके वाके द्वारे बचबाबे नई भगत फिरते। खैर ठाई बात गनपत के हाथ। अब तो मेरो नाती मेरो गुरू है। वो पढ़के मोहें सुनात है। सिलेट पर मोसे नकल करवात है। जो कछु जब सही होत है तो सही पाड़ देत है और गलती सलती हो जात है तो झट्ट दाई कट्टिस पाड़ देत है।

(जनशिक्षण अभियान की पत्रिका 'पढैय्या पलटन' से साभार)

के जरिए हमने यह काम किया।

बड़ों को पढ़ाने के लिए भी क्या यही तरीका अपनाएंगे?

● हां, तरीका तो वही होगा परन्तु सामग्री में अन्तर होगा। इसके लिए छोटी-छोटी पुस्तिकाएं और जीवन्त गतिविधियों को जोड़ रहे हैं।

शिक्षा शास्त्री पाउलो फ्रेरे का मत है कि गरीबों में साक्षरता का काम जनचेतना पैदा करके ही किया जा सकता है?

● हम भी यही सोचते हैं। इसीलिए हम अपने कार्यक्रम को जन संगठन और जनसंघर्षों से जोड़कर देखते हैं।

परंपरागत गीतों, लोकगीतों से किस तरह राजनैतिक शिक्षण होगा?

● परंपरागत गीतों, उनकी धुनों और उनके भीतर छुपे असर जगजाहिर हैं। इस ताकत का इस्तेमाल इस तरह की नवरचना में किया जा रहा है जिससे शिक्षण में मदद मिले। हमारी कोशिश है कि लोकसंगीत को आधार बनाकर जनचेतना के स्वर गूँथे जाएं। इस काम में क्रांतिकारी संत, कवियों की रचनाएं भी हमारे लिए मददगार हैं।

लिखने-पढ़ने की प्रक्रिया क्या साथ-साथ चलेगी?

● लिखे शब्दों, वाक्यों पर अंगुली रखकर पढ़ने का अभ्यास, ढोर-बछेरू के चित्र बनाना, पेन्सिल घुमाना, गांव, खेत, खलिहान का नक्शा बनाना, अक्षरों-अंकों का आकार बनाना, इन सब क्रियाकलापों से पढ़ना-लिखना साथ-साथ चलेगा।

गणित में आप क्या पढ़ाएंगे? क्या सिखाएंगे?

● रोजमर्रा का जोड़ना-घटाना, हिसाब-किताब, मेहनत-मजदूरी, बटाई का हिसाब, लम्बाई, गल्ला, दूध, जमीन को मापने के परंपरागत और नए तरीकों का संबंध और अंतर समझाएंगे। देखा गया है कि गांव के निरक्षर लोग मौखिक रूप से काफी जोड़-घटाना कर लेते हैं। यहां भी मुख्य काम उन्हें भाषा सिखाना ही है। इसके बाद अपने

ज्ञान को बढ़ाने के लिए हमारे पास उपलब्ध अन्य सामग्री का इस्तेमाल कर सकते हैं। गणित ही नहीं अन्य जानकारी भी प्राप्त कर सकते हैं।

हमारी सरकार 30-35 सालों से लोगों को साक्षर बनाने की कोशिश कर रही है? वह क्यों सफल नहीं हो पाई? क्या साक्षरता का काम पूर्णकालिक है?

● विगत सालों में साक्षरता के नाम पर बहाये गए अरबों रुपयों के बाद जो नतीजे सामने आए हैं उनको देखकर सरकारी लोगों को शायद यही अंदाज लगता होगा कि लोग पढ़ना-लिखना ही नहीं चाहते। प्रौढ़ शिक्षा या अनौपचारिक शिक्षा के केन्द्रों का जो जाल सरकारी कागजों में है उसे जमीन पर ढूँढ पाना मुश्किल है। गांव के किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति को नाममात्र का पारिश्रमिक देकर 1-2 घंटे पढ़ाने की जिम्मेदारी दे दी जाती है। पढ़ाने वाले के ऊपर अनुदेशक, प्रेरक जैसे लोग बिना काम किए ज्यादा वेतन और सुविधाएं पाते हैं।

जो भी रात्रि कक्षाएं चलाई जा रही हैं उनमें लोगों की दिलचस्पी नहीं है। पढ़ाने वाला भी ये मानकर चलता है कि लोग जुटते ही नहीं हैं। गांवों में जात-पात, ऊंच-नीच, छूआ-छूत, नरनारी विषमता, बाल मजदूरी, खेती के मौसम में अनिश्चितता आदि इसकी असफलता के अन्य पहलू हैं। साक्षरता कार्यकर्ता का काम पूर्णकालिक होना चाहिए क्योंकि पढ़ाने के लिए तैयारी, लोगों से संपर्क, मेल-जोल उनकी जरूरतों को पहचानने का काम इसमें शामिल है।

सरकारी पाठ्यक्रम के बारे में आप सबके क्या विचार हैं?

● सरकारी प्राइमर लोगों के अनुभव एवं जानकारी को नज़र-अंदाज़ कर विशेषज्ञों के ज्ञान से बने होते हैं। इस कारण उनमें उपदेश, सरकारी पक्ष, बनावटी इबारत, बोझिलता और उबाऊपन होता है। उनमें बने चित्र और भाषा गांव में हंसी मजाक का विषय बन जाते हैं। हमारा मकसद अगर पढ़ना-लिखना सिखाना है तो सामग्री का रुचिकर मनोरंजक एवं समाज की जरूरतों से जुड़ा होना बेहद जरूरी है।

'कामकाजी आदमी हूँ'

युवराज साहू

एक दिन की बात है। दशहरे की छुट्टियों में मैं अपने घर गया था। वहाँ ग्वाले का एक दस-बारह साल का लड़का दूध देने के लिये प्रतिदिन घर आता था - पुष्ट शरीर, प्रसन्नचित, बातूनी और समय का पाबंद। जब तक घर वाले उसका दूध लेते तब तक वह कुछ न कुछ कहता ही रहता। मुझे उसकी बातों में आनंद आने लगा। एक दिन दूर से मुझे देखकर बोला, 'बाबूजी नमस्ते।' मैंने उसे आशीर्वाद दिया। वह मेरे पास आकर खड़ा हो गया। मेरी माँ उसके दूध का बर्तन लेकर अंदर चली गई। वह मुझसे बातें करने लगा। बातों ही बातों में मैंने उससे पूछा, 'क्या तुम पढ़ने नहीं जाते हो?'

उसने उत्तर दिया, 'नहीं।'

मैंने पूछा, 'क्यों नहीं जाते?'

उसने बड़े नाटकीय ढंग से हाथ हिलाते हुए कहा, 'क्या मैं ठलुआ (बेकाम) हूँ?'

उसका उत्तर सुनकर मैं चौंक गया। उसने एक विचित्र बात कह दी, ऐसी बात जिस पर तब तक ध्यान नहीं दिया गया था।

मैंने अच्छी तरह से समझने के लिये प्रश्न किया, 'जो पढ़ते हैं, क्या वे ठलुआ (बेकाम) होते हैं?'

मेरे प्रश्न को सुनकर वह जोर से हंसा और बोला, 'हां,

हां वे सब ठलुआ होते हैं। उनके लिये न घर में कोई काम होता है और न दुकान में, न खेत में और न खलिहान में। वे तो दिन भर इधर से उधर घूमते रहते हैं। इसलिये उनके मां-बाप उन्हें शाला में भर्ती करा देते हैं।'

मैं उसकी बात सुनकर अवाक रह गया। एक अपढ़ बालक ने छात्रों को नई व्याख्या और पाठशाला को नई परिभाषा दे दी। मन में अनेक प्रश्न एक साथ उठे। मैं विचारों में खो गया। उसने अपने दूध का खाली बर्तन उठाया और कहने लगा, 'बाबूजी! क्या आप बुरा मान गये?'

मेरी चेतना लौटी। मैंने कहा, 'नहीं भैया, इसमें बुरा मानने की क्या बात है? क्या बैठोगे नहीं?'

वह बोला- 'बाबूजी। अभी तो मुझे फुर्सत नहीं है। कामकाजी आदमी हूँ। सूबह से बारह सेर दूध बेचा है। अब घर जाकर अपनी पांच भैंस और सात गायें लेकर जंगल में जाऊंगा। उन्हें दिन भर हरी-हरी घास चराकर शाम को घर लौटूंगा। रात में जब दूध देने आपके घर आऊंगा तब कुछ देर बैठ पाऊंगा। कुछ समय बातें कर लेना।'

इतना कहकर उसने अपना लोटा उठाया और दौड़ लगा दी। देखते ही देखते आंखों से ओझल हो गया, किन्तु अनेक प्रश्न छोड़ गया। काश! शिक्षा के लोकव्यापीकरण की नीति बनाते समय हमने इन प्रश्नों पर विचार किया होता।

युवराज साहू (शिक्षक)

ग्राम-आंदू, पो. सरदा

जिला-दुर्ग मप्र. 491335





साक्षरता पर लेव तोलस्तोय के विचार

साक्षरता की संकल्पना हमारे यहां ही नहीं, बल्कि सारे यूरोप में पायी जाती है। यह माना जाता है कि साक्षरता फैलाना ही जनता के लिए निर्मित आधारिक स्कूलों का उद्देश्य है - पढ़ना और लिखना। मगर साक्षरता है क्या और उसका शिक्षा की पहली सीढ़ी से क्या संबंध है? साक्षरता, लिखना-पढ़ना, जानना कुछ निश्चित चिन्हों से शब्द बनाकर उनका उच्चारण करने और उन्हीं चिन्हों से शब्द बनाकर उन्हें चित्रित करने की कला है। साक्षरता और शिक्षा के बीच क्या संबंध है? साक्षरता एक निश्चित कला है, जब कि शिक्षा तथ्यों और उनके सहसंबंधों के ज्ञान को कहते हैं। मगर हो सकता है कि शब्द बनाने की यह कला मनुष्य को शिक्षा की पहली सीढ़ी पर पहुंचाने के लिए आवश्यक है और इसके लिए अन्य कोई रास्ता नहीं है? हम न सिर्फ ऐसी कोई बात नहीं देखते, बल्कि प्रायः इससे बिल्कुल उल्टी ही देखते हैं- बेशक अगर शिक्षा से हमारा तात्पर्य स्कूली शिक्षा ही नहीं, जीवन द्वारा दी जाने वाली शिक्षा भी हो। शिक्षा की नीची सीढ़ी पर खड़े लोगों के बीच हम देखते हैं कि लिखना-पढ़ना जानना या न जानना उनकी शिक्षा के स्तर को तनिक भी प्रभावित नहीं करता। हम ऐसे लोग पाते हैं, जो कृषिविज्ञान के लिए आवश्यक सभी तथ्यों को, इन तथ्यों के बीच बहुत से संबंधों को तो जानते हैं, मगर लिखना-पढ़ना नहीं जानते। हम ऐसे उत्कृष्ट सेनानी, व्यापारी, प्रबंधक, कार्य-निरीक्षक, कारीगर, दस्तकार, ठेकेदार और सीधे जीवन से शिक्षा पाये हुए लोग पाते हैं, जिनमें ज्ञान की और उस ज्ञान पर आधारित सामान्य बुद्धि की तो कमी नहीं, पर जो निरक्षर

हैं। इसके विपरीत, ऐसे लोग भी बहुत मिलते हैं, जो लिखना-पढ़ना तो जानते हैं, मगर जिन्होंने इस कला के जरिये कोई भी नया ज्ञान अर्जित नहीं किया है। रूस ही नहीं, यूरोप में भी सार्वजनिक शिक्षा पर दृष्टिपात करके हर कोई अनायास ही इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि जनता द्वारा शिक्षा साक्षरता से बिल्कुल निरपेक्ष रूप से अर्जित की जाती है और लिखने-पढ़ने की योग्यता - कुछ बहुत ही विरले अपवादों को छोड़कर- से हानिकारक तक सिद्ध होती है। हानिकारक इसलिए कि जीवन में कुछ भी ऐसा नहीं होता कि जो अपनी छाप न छोड़ता हो यदि लिखने-पढ़ने का ज्ञान व्यवहार में उपयोग नहीं हो सकता तथा बेकार है, तो वह हानि ही पहुंचायेगा।

मगर कहीं ऐसी बात तो नहीं कि शिक्षा के किसी निश्चित स्तर को, जो साक्षरताहीन शिक्षा की ऊपर दी गयी मिसालों से ऊंचा है, लिखना-पढ़ना जाने बिन नहीं प्राप्त किया जा सकता? हो सकता है कि बात ऐसी ही हो, मगर हम इसे नहीं जानते और भावी पीढ़ी की शिक्षा के लिए ऐसा सोचने का हमारे पास कोई आधार भी नहीं है। शिक्षा का केवल वह स्तर प्राप्त करना असंभव है, जिस तक हम पहुंच चुके हैं और जिसके अलावा और किसी स्तर की कल्पना हम न तो कर सकते हैं, न ही करना चाहते हैं। साक्षरता स्कूल का एक नमूना हमारे पास मौजूद है, जो हमारे मत में शिक्षा की आधारशिला का काम करता है, और हम शिक्षा की उन और सभी सीढ़ियों को नहीं जानना चाहते, जो हमारे स्कूल से नीचे नहीं, बल्कि उसके बिल्कुल बाहर तथा उससे स्वतंत्र हैं।

हम कहते हैं : सभी निरक्षर समान रूप से अशिक्षित हैं,

कि हमारे लिए वे सभी असम्भव हैं। शिक्षा की शुरुआत के लिए अक्षरज्ञान आवश्यक है, और हम जाने अनजाने जनता को अपनी शिक्षा के इस रास्ते पर ले जाते हैं। मैंने जो शिक्षा पायी है, उसे देखते हुए मैं इस राय से सहर्ष सहमत हो जाता; मैं तो यह भी मानता हूँ कि साक्षरता शिक्षा के एक निश्चित स्तर के लिए आवश्यक है; मगर मैं इस बारे में निश्चित नहीं हूँ कि मेरी शिक्षा अच्छी है, कि विज्ञान जिस मार्ग पर जा रहा है, वह ठीक मार्ग है, और, जो मुख्य बात है, मैं साक्षरता के बिना शिक्षित बन रही तीन चौथाई मानवजाति की उपेक्षा नहीं कर सकता। अगर हम जनता को अवश्य ही शिक्षित बनाना चाहते हैं, तो हमें उससे पूछना होगा कि वह शिक्षा कैसे ग्रहण करती है और इसके लिए उसके प्रिय औज़ार क्या हैं। अगर हम आरंभ, शिक्षा की पहली सीढ़ी, खोज निकालना चाहते हैं तो क्यों उसे अनिवार्यतः पढ़ाई-लिखाई में ही ढूँढ़ें, क्यों न इससे भी अधिक गहराई में जायें? शिक्षा के असंख्य औज़ारों में से किसी एक पर ही क्यों रुक जायें और क्यों उसमें ही शिक्षा का आदि और अंत देखें, जबकि वह शिक्षा का एक सांयोगिक और थोड़ा ही महत्व रखनेवाला कारक है? यूरोप में लिखना-पढ़ना अरसे से सिखाया जा रहा है, मगर जन साहित्य नहीं है, यानी जनता, या जिन लोगों को केवल शारीरिक श्रम करना पड़ता है उन लोगों का वर्ग कहीं भी किताबें नहीं पढ़ता। कहां तो इस तथ्य पर ध्यान देते हुए इसके कारणों का पता लगाया जाना चाहिए था, मगर हो यह रहा है कि पढ़ना-लिखना सिखाना जारी रखकर ही शिक्षा के काम में मदद करने की सोची जा रही है।

सिद्धांत में सभी बुनियादी प्रश्न बड़ी आसानी और सरलता से हल हो जाते हैं। किन्तु जब उन्हें व्यवहार में हल करने की कोशिश की जाती है, तो यह काम इतना आसान नहीं प्रतीत होता और साथ ही हजारों दूसरे मुश्किल से हल होनेवाले प्रश्न पैदा हो जाते हैं। देखने में लगता है कि जनता को शिक्षित करना बड़ा सरल और आसान है : बस उसे, चाहे जबर्दस्ती ही सही, लिखना-पढ़ना सिखा दो, अच्छी किताबें दे दो और सारी समस्या हल हो जायेंगी। मगर व्यवहार में बिल्कुल उल्टा

ही होता है। लोग लिखना-पढ़ना नहीं सीखना चाहते। मगर उन्हें मजबूर किया जा सकता है। दूसरी कठिनाई यह है कि किताबें नहीं हैं। किताबें लिखवायी जा सकती हैं। पर ऐसी किताबें खराब होती हैं, और अच्छी किताबें लिखने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। फिर सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि लोग इन खराब किताबों को पढ़ना नहीं चाहते और उन्हें पढ़ने के लिए मजबूर करने का अभी तक कोई तरीका खोजा नहीं जा सका है। जनता अपनी शिक्षा साक्षरता स्कूलों में नहीं, बल्कि अपने ही ढंग से जारी रखती है।

हो सकता है कि जनता के लिए सार्विक शिक्षा में भाग लेने की ऐतिहासिक घड़ी अभी नहीं आयी है और लिखना-पढ़ना सीखने के लिए अभी सौ साल और चाहिए; हो सकता है कि जनता बिगड़ चुकी है (जैसे कि बहुत से लोग सोचते हैं); हो सकता है कि जनता का स्वयं अपने लिए किताबें लिखना ठीक रहेगा; हो सकता है कि अभी सर्वोत्तम विधि नहीं खोजी गयी है; यह भी हो सकता है कि किताबों और साक्षरता के जरिये शिक्षा अभिजातीय तरीका है और मजदूर वर्ग उसे आज के युग में विकसित शिक्षा के अन्य औज़ारों की अपेक्षा कम सुविधाजनक पाता है।

हो सकता है कि आज जनता साक्षरता के जरिये शिक्षा के इस मुख्य लाभ को नहीं देखती कि वह सहायक साधनों के बिना भी ज्ञान दे सकती है। हो सकता है कि कामगर आदमी के लिए वनस्पति विज्ञान वनस्पतियों से, प्राणिविज्ञान पशुओं से और गणित बीजकों से सीखना ज़्यादा आसान है, बजाय किताबों से सीखने के। हो सकता है कि कामगर आदमी को कहानी सुनने, संग्रहालय या प्रदर्शनी देखने के लिए वक्त मिल जाये, जबकि किताब पढ़ने के वास्ते वक्त न मिले। यह भी संभव है कि सीखने का किताबी तरीका उसकी जीवन-पद्धति और उसके स्वभाव से मेल नहीं खाता। हम प्रायः देखते हैं कि जब कोई जानकार आदमी कुछ बता और समझा रहा होता है, तो कामगर आदमी उसकी बातें ध्यान और चाव से और समझने की स्पष्ट कोशिश करते हुए सुनता है। मगर

ऐसा कामगार आदमी मुश्किल से ही मिलेगा, जो अपने घट्टेदार हाथों में किताब लिये हुए हो और उसके लिए दो पन्नों पर सरल शैली में बतायी हुई ज्ञान विज्ञान की बातों को समझना चाहता हो। ये सब कारणों से संबंधित अनुमान है, जो बहुत गलत भी हो सकते हैं। फिर भी यह तथ्य है कि यूरोप में जनता के लिए रचे हुए साहित्य का अभाव है व जनता साक्षरता के ज़रिये शिक्षित बनाये जाने का विरोध करती है।

ठीक इसी प्रकार हम यह भी पाते हैं कि सारे यूरोप में शिक्षा देने वाला वर्ग लिखना-पढ़ना सिखाने वाले स्कूलों को शिक्षा की पहली सीढ़ी मानता है। शिक्षा के ऐतिहासिक क्रम पर दृष्टिपात करके हम इस इतने अतर्कसंगत प्रतीत होने वाले दृष्टिकोण के स्रोत को जान सकते हैं। पहले निम्नतर स्कूलों की नहीं, उच्चतर स्कूलों की स्थापना हुई थी : पहले मठों के विद्यालय स्थापित हुए, फिर जिम्नाज़ियम, फिर उयेज़्दस्तरीय स्कूल और फिर सार्वजनिक स्कूल। हमारे यहां पहले अकादमी की स्थापना हुई, फिर विश्वविद्यालयों, फिर जिम्नाज़ियमों, फिर उयेज़्दस्तरीय स्कूलों और अंत में सार्वजनिक प्राथमिक स्कूलों की। शिक्षा संस्थाओं के इस संगठित सोपानक्रम में लिखना-पढ़ना जानना शिक्षा की अंतिम सीढ़ी अथवा आखिर से पहली सीढ़ी है और इसलिए निम्नतर स्कूल का काम केवल उन्हीं आवश्यकताओं को पूरा करना है, जो उच्चतर स्कूल पेश करता है। मगर एक और दृष्टिकोण भी पाया जाता है, जिसके अनुसार सार्वजनिक स्कूल एक स्वतंत्र संस्था है, जिसमें उच्च शिक्षा संस्था जैसी कमियों का होना आवश्यक नहीं है और सार्वजनिक शिक्षा के रूप में जिसका अपना स्वतंत्र लक्ष्य होता है।

हम राज्य द्वारा निर्मित शिक्षा के सोपानक्रम की जितनी ही निचली सीढ़ी पर उतरते हैं, उतना ही ज़्यादा हर सीढ़ी पर शिक्षा को पूर्ण तथा स्वतंत्र बनाने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। जिम्नाज़ियमों के केवल 1/5 विद्यार्थी भी विश्वविद्यालयों में नहीं भरती होते। जबकि उयेज़्दस्तरीय स्कूलों के केवल 1/5 विद्यार्थी जिम्नाज़ियमों में और सार्वजनिक स्कूलों के केवल 1/1000 विद्यार्थी ही उच्च

शिक्षा संस्थाओं में भरती हो पाते हैं। अतः सार्वजनिक स्कूल का उच्च शिक्षा संस्था के अनुरूप होना सार्वजनिक शिक्षा का सबसे गौण लक्ष्य होना चाहिए। मगर यह अनुरूपता ही है जिससे सार्वजनिक स्कूल को साक्षरता स्कूल समझा जाता है।

साक्षरता के लाभ या हानि के बारे में हमारे साहित्य में चलने वाली यह बहस, जिस पर हंसना इतना आसान था, हमारे मत में एक काफी गंभीर बहस है, और उसे बहुत से प्रश्नों को स्पष्ट करना है। प्रसंगतः ऐसी बहस अकेले हमारे यहां ही नहीं चली है, अथवा चल रही है। कुछ लोग कहते हैं कि जनता के लिए किताबें और पत्रिकाएं पढ़ने की संभावना पाना हानिकर है, क्योंकि ये किताबें और पत्रिकाएं प्रकाशन व्यवसायियों और राजनीतिक दलों द्वारा उसे मुहैया की जाती हैं। ये लोग कहते हैं कि साक्षरता मज़दूर वर्ग को उसके परिवेश से जुदा करके उसमें अपनी स्थिति के प्रति असंतोष जगाती है और दुर्गुणों तथा नैतिक पतन को जन्म देती है। दूसरे लोग कहते हैं या कहना चाहते हैं कि शिक्षा हानिकारक नहीं हो सकती है, कि वह सदा लाभकारी ही होती है।

पहले कमोबेश ईमानदार प्रेक्षक हैं और दूसरे सिद्धांतकार। जैसा कि बहसों में हमेशा होता है, दोनों ही पक्ष बिलकुल सही हैं। हमें लगता है कि बहस केवल इसलिए हो रही है कि प्रश्न को अस्पष्ट ढंग से पेश किया गया है। पहले साक्षरता पर सर्वथा उचित ही हमला करते हैं कि वह मनुष्य में अलग से पैदा की गई और हर तरह के ज्ञान से रहित पढ़ने और लिखने की योग्यता है (अधिकांश स्कूल अभी तक यही करते आ रहे हैं, क्योंकि रटकर जो सीखा था, वह तो भूल जाता है और अकेला अक्षरज्ञान ही बचा रहता है); दूसरे साक्षरता की हिमायत करते हैं, उसका अर्थ शिक्षा की पहली सीढ़ी लगाते हैं और गलत केवल इस बात में होते हैं कि साक्षरता की उनकी समझ ठीक नहीं है। यदि प्रश्न को यों पेश किया जाये कि जनता के लिए प्राथमिक शिक्षा उपयोगी है या नहीं, तो नकारात्मक उत्तर कोई भी नहीं देगा। लेकिन यदि पूछते हैं कि क्या जनता को पढ़ना सिखाना उपयोगी है, जब वह

पढ़ना नहीं जानती और उसके पास पढ़ने के लिए किताबें नहीं हैं, तो मैं आशा करता हूँ कि किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति का उत्तर होगा : मालूम नहीं, ठीक वैसे ही नहीं मालूम, जैसे यह कि सभी लोगों को वायलिन सिखाना उपयोगी होगा कि जूते बनाना सिखाना। लोगों को जिस रूप में अक्षरज्ञान दिया जाता है, उस रूप में उसके परिणाम पर अधिक नजदीक से गौर करके मैं सोचता हूँ कि लंबे समय तक की जाने वाली जोर-जबर्दस्ती, स्मरणशक्ति के असंतुलित विकास, विज्ञान की पूर्णता विषयक भ्रांत धारणा, आगे की शिक्षा से विरक्ति, मिथ्या अहंकार तथा निरर्थक पठन के जो साधन इन स्कूलों में हासिल किये जाते हैं, उन्हें ध्यान में रखकर अधिकांश लोग साक्षरता को अनुपयोगी ही बतायेंगे। यास्नाया पोल्याना स्कूल में साक्षरता स्कूलों से आये हुए सभी विद्यार्थी जीवन के स्कूल से आये हुए विद्यार्थियों से हमेशा पिछड़े रहते हैं और साक्षरता स्कूलों में उन्होंने जितने ही ज्यादा लंबे समय तक पढ़ा होता है, उनका यह पिछड़ापन उतना ही ज्यादा होता है।

सार्वजनिक स्कूल का उद्देश्य और कार्यक्रम क्या है, इसे हम यहां न सिर्फ नहीं बता सकते, बल्कि अन्यथा भी इसे असंभव मानते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में हम बस इतनी ही सकारात्मक बात कह सकते हैं कि सार्वजनिक स्कूल को जनता की आवश्यकताएं पूरी करनी चाहिए। ये आवश्यकताएं क्या हैं, इसका उत्तर उनका अध्ययन और स्वतंत्र प्रयोग ही दे सकते हैं। लिखना-पढ़ना जानना तो इन आवश्यकताओं का एक छोटा-सा, अत्यंत मामूली हिस्सा ही है, जिसके कारण साक्षरता स्कूल, चाहे उनके संस्थापक उन्हें ही वास्तविक शिक्षा केंद्र समझते हुए उन पर कितने भी मुग्ध क्यों न हों, जनता के लिए लगभग अनुपयोगी और प्रायः हानिकर सिद्ध हो जाते हैं और आरंभिक शिक्षा देने वाले स्कूलों से भी कोई समानता नहीं रखते। इसी कारण यह प्रश्न सार्वजनिक शिक्षा के लिए कम महत्व रखने वाला प्रश्न बन जाता है कि लिखना-पढ़ना जल्दी से जल्दी कैसे और किस विधि से सिखाया जाये। इसी कारण वे लोग, जो दिल बहलाने के

लिए साक्षरता स्कूल चलाते हैं, यदि इसे छोड़कर कोई अधिक रोचक काम करने लगेंगे, तो कहीं अच्छी बात करेंगे, क्योंकि सार्वजनिक शिक्षा का कार्य अकेली साक्षरता तक ही सीमित नहीं है। इसके अलावा वह कठिन ही नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष तथा निरंतर श्रम और जनता के अध्ययन की अपेक्षा करने वाला कार्य भी है। साक्षरता स्कूलों की जरूरत उसी हद तक है, जिस हद तक साक्षरता जनता के लिए जरूरी है। इसलिए साक्षरता स्कूल ठीक उतने चलते हैं, जितनी उनकी आवश्यकता होती है। हमारे यहां इन स्कूलों की तादाद ज्यादा इसलिए है कि इनमें काम करने वाले अध्यापक लिखने-पढ़ने के अलावा और कुछ नहीं सिखा सकते और जनता भी नामपट्ट पढ़ने, रकमें लिखने, पैसे लेकर मृतक के लिए प्रार्थना की पुस्तक से पाठ करने, आदि व्यावहारिक कार्यों के लिए थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना जानने की आवश्यकता महसूस करती ही है। ये स्कूल वैसे ही चलते हैं, जैसे दर्जियों और बढइयों की कर्मशालाएं; यहां तक कि उनके बारे में जनता का दृष्टिकोण और उनमें सिखाने वालों के तरीके भी वैसे ही हैं: वैसे ही विद्यार्थी खुद, समय के साथ, जैसे-तैसे कुछ सीख लेता है; वैसे ही उस्ताद विद्यार्थी को अपने कामों-वोदका लाना, लकड़ी फाड़ना, आदि के लिए इस्तेमाल करता है और वैसे ही उनमें सीखने-पढ़ने की अवधि तय की जाती है। उन हुनरों जैसे यह साक्षरता भी कभी आगे शिक्षा के लिए नहीं इस्तेमाल की जाती, बल्कि केवल व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल की जाती है।

पढ़ाने वाला गिरजे का पादरी हो या भूतपूर्व सैनिक, किसान अपने तीन बेटों में से एक को वैसे ही पढ़ने को दे देता है, जैसे दर्जी का काम सीखने को दे रहा हो, और इससे दोनों की ही कानूनी जरूरत पूरी हो जाती है, मगर इसमें शिक्षा का एक निश्चित स्तर देखना, और यह सोचते हुए कि ऐसे स्कूल की एकमात्र खामी उसकी लिखना-पढ़ना सिखाने की विधि है, इस आधार पर सरकारी स्कूल की स्थापना करना तथा उसमें बच्चों को चालाकी से जोर-जबर्दस्ती से भरती करवाना अपराध या गलती करना होगा।

(शिक्षा शास्त्रीय रचनाएं से साभार)

चम्पा काले काले अच्छर नहीं चीन्हती
 मैं जब पढ़ने लगता हूँ वह आ जाती है
 खड़ी-खड़ी चुपचाप सुना करती है
 उसे बड़ा अच्छर ज़ होता है:
 इन काले चिन्हों से कैसे ये सब स्वर
 निकला करते हैं

चम्पा सुंदर की लड़की है
 सुंदर उवाला है: गाबें-भैमें रखता है
 चम्पा चौपायों को लेकर
 चरवाही करने जाती है

चम्पा अच्छी है
 चंचल है
 नटखट भी है

कभी-कभी ऊधम करती है
 कभी-कभी वह कलम चुरा लेती है
 जैसे-तैसे उसे दंड कर जब लाता हूँ
 पाता हूँ- अब कागज़ गायब है
 परेशान फिर हो जाता हूँ

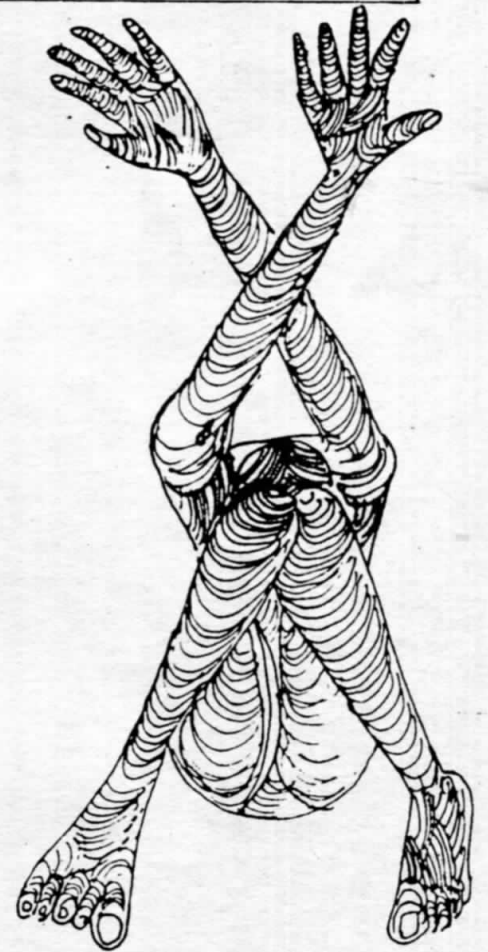
चम्पा कहती है:
 तुम कागद ही गौदा करते हो दिन भर
 क्या यह काम बहुत अच्छा है
 यह सुनकर मैं हंस देता हूँ
 फिर चम्पा चुप हो जाती है

उसो दिन चम्पा आई, मैंने कहा कि
 चम्पा, तुम भी पढ़ लो
 हाँ-गोटे काम सरेगा
 गांधी बाबा की इच्छा है-
 सब जन पढ़ना- लिखना सीखें
 चम्पा ने यह कहा कि
 मैं तो नहीं पढ़ूंगी
 तुम तो कहते हो गांधी बाबा अच्छे हैं
 वे पढ़ने लिखने की कैसे बात करेंगे
 मैं तो नहीं पढ़ूंगी

मैंने कहा कि चम्पा, पढ़ लेना अच्छा है
 क्या तुम्हारा होगा, तुम जाने जाओगी,
 कुछ दिन कालम संग साथ रह-चला जायेगा जब कलकत्ता
 बड़ी दूर है वह कलकत्ता
 कैसे उसे संदेशा दीगी
 कैसे उसके पत्र पढ़ीगी
 चम्पा पढ़ लेता अच्छा है!

चम्पा बोली: तुम कितने झूठे हो, देखा,
 हाथ राम, तुम पढ़-लिखकर इतने झूठे हो
 मैं तो क्या कभी न करूंगी
 और कहीं जो क्या हो गया
 तो मैं अपने कालम की संग साथ रखूंगी
 कलकत्ता में कभी न जाने दूंगी
 कलकत्ते पर बजर गिरे!

चम्पा काले- काले अच्छर नहीं चीन्हती!



लोकतंत्र का गाना

पाठशाला खुला दो महाराज
मोर जिया पढ़ने को चाहे।
आम का पेड़ ये
ठूठ का ठूठा
काला हो गया
हमारा अंगूठा
यह कालिख हटा दो महाराज
मोर जिया लिखने को चाहे
पाठशाला खुला दो महाराज
मोर जिया पढ़ने को चाहे।
'ज' से जर्मीदार
'क' से कारिंदा
दोनों खा रहे
हमको जिन्दा
कोई राह दिखा दो महाराज
मोर जिया बढ़ने को चाहे
पाठशाला खुला दो महाराज
मोर जिया पढ़ने को चाहे।
अगुनी भी यहां
ज्ञान बघारें
पोथी बांचे
मन्तर उचारे
उनसे पिण्ड छुड़ा दो महाराज
मोर जिया उड़ने को चाहे
पाठशाला खुला दो महाराज
मोर जिया पढ़ने को चाहे
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

प्रकाशक : एकलव्य, 1/208 अरेरा कालोनी, भोपाल 462 016

संपादन कार्यालय : एकलव्य, कोठी बाजार, होशंगाबाद 461 001

मुद्रण : ईस्टर्न ऑफसेट, 3, ऐशबाग स्टेडियम, भोपाल, 462 010, फोन 66108